दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९३ तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी वर्ष २२ अंक नं० १०

सच्चा जैन

हे जीव! यदि तुझे सच्चा जैन बनना हो तो जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्वों का निर्णय कर। जीव और अजीव आदि तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसके निर्णय बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता, और धर्म के हेतु किये जानेवाले उसके समस्त कार्य (वैराग्य, संयम, तप, ध्यानादि) भी असत्य होते हैं। इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुओं का उपदेश एवं स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। भले ही दूसरा ज्ञान अल्प हो तथापि, अपने हित के लिये मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय तो अवश्य करो।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

इस काल में बुद्धि थोड़ी, आयु अल्प, सत् समागम की दुर्लभता... उसमें हे जीव! तुझे यही सीखने योग्य है कि जिससे तेरा हित हो... और जन्म-मरण मिटे।

यथार्थ तत्त्व निर्णय वह जिनत्व की पहली सीढ़ी है; इसलिये तत्त्व निर्णय करके सच्चा जैन हो। *['रत्नसंग्रह' (गुजराती) से]*

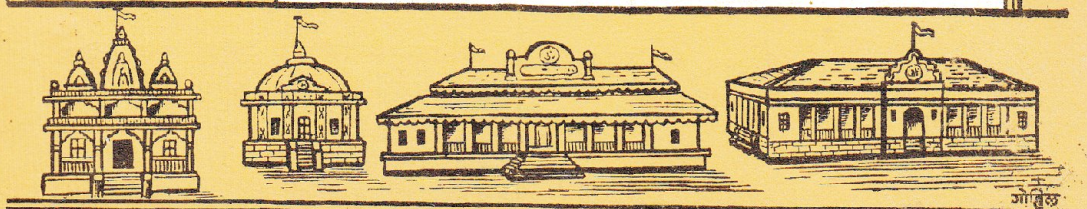

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

फरवरी १९६७] वार्षिक मूल्य २) (२६२) एक अंक २५ पैसा [माघ सं० २०२३

विषय-सूची

पुण्य पाप का खेल
बीज के चंद्र की तीन कला
नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते
उस पार (कविता)
निर्विकल्प अनुभव समय का विशिष्ट आनंद
परिणामों से ही बंध और मोक्ष होता है
अहिंसा और सैनिक
सर्वज्ञ वीतराग कथित सज्जनता के द्वारा
अधमपना छोड़ा जा सकता है
विविध वचनामृत
सच्चे दानी
मोक्षमार्ग दो नहीं हैं और न हो सकते हैं
स्वानुभव ज्ञान का वर्णन
तत्त्वचर्चा
आध्यात्मिक पद
पुण्य से ही निर्जरा होती अगर तो (कविता)
शुद्ध जीव और अजीव का स्पष्ट भेद विज्ञान
आत्मा के सहज स्वभाव में विकार का कर्तृत्व
मानकर अज्ञानी जबरदस्ती करता है
समय कम है और काम अधिक है
शाश्वत महिमा (कविता)
समाचार संग्रह

१०१) रुपये देकर आत्मधर्म के आ-जीवन सभ्य होनेवालों की नामावली

(१) श्री घासीलाल बंशीधर सरावगी,
रामगढ़, राज०
(२) श्री बाबूलाल जी सरावगी, कलकत्ता
(३) श्री वीणाबेन जगदीशचंद्र मोदी, मुम्बई
(४) श्री बासंतीलालजी झांझरी, कलकत्ता
(५) श्री चिमनलाल हीरालाल जैन, झुमरीतलैया
(६) श्री पूरणचंद्रजी गोदीका, जयपुर
(७) श्रीमती कमलकांत बहिन कुरावड
ह० भंवरलाल जोरूमल उदयपुर

१०१) के स्थायी सदस्य बननेवाले सज्जनों को फिर वार्षिक मूल्य नहीं देना पड़ता है। आप भी स्थायी सदस्य बनकर धर्म प्रचार में सहयोगी बन सकते हैं। —प्रकाशक

आत्मधर्म

आजीवन सभ्य योजना

आत्मधर्म मासिक पत्र के हजारों की संख्या में ग्राहक हैं। पत्र ज्यादा से ज्यादा विकसित बने और उनके स्थायी ग्राहकों को हरसाल वार्षिक शुल्क भेजने का कष्ट न हो, संस्था को भी व्यवस्था में सुविधा रहे। अतः ऐसा निर्णय किया गया है कि- १०१) रुपये लेकर 'आजीवन सभ्य' योजना चालू की जाये, एवं उन्हें 'आत्मधर्म' हरसाल बिना वार्षिक शुल्क भेजा जाये। अतः जो सज्जन इस योजना से लाभ उठाना चाहें, वे निम्न पते पर १०१) रुपया भेजकर इस योजना में सहयोग प्रदान करें। यह योजना गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं के 'आत्मधर्म' के लिये चालू की गई है।

पत्र व्यवहार का पता—
मैनेजर दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

फरवरी : १९६७ ☆ वर्ष २२वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९३ ☆ अंक : १०

पुण्य-पाप का खेल

पुण्य-पाप को खेल, जगत में बनि रह्यो;
इनही के परसाद, सुखी दुखिया कह्यो।
दोउ जगत के मूल, विनाशी जानिये;
इनही तें जो भिन्न, सुखी सो मानिये॥
देव-धर्म परतीति परिक्षा सांच की,
सीखै नाहिं सुदृष्टि, रतन अरु कांच की।
जन्म अकारथ जाय, सुनो मन बावरे;
पीछें फिर पछताय, बहुर नहिं दावरे॥
पुण्य पाप परत्यक्ष दोउ जगमूल है;
इनही सें संसार, भरत की भूल है।
केवल शुद्ध स्वभाव, लखै नहि हंस को;
ताही तैं द्रुम होय, करम के वंश को॥
शुद्ध निरंजन देव, सदा निज पास है;
ताको अनुभव करो, यही अरदास है।
कबहु भूल न जाहु, पुण्य अरु पाप में;
केवलज्ञान प्रकाश, लहोगे आपमें॥
पुण्य-पाप जग-मूल, कहे समुझाय के;
जो इनसेती भिन्न बसै शिव जायके।
पुण्य-पाप वश जीव सब, बसत जगत में जान।
'भैया' इनतें भिन्न जो, ते सब सिद्ध समान॥

बीज के चंद्र की तीन कला

सम्यक्त्वरूपी बोधि बीज तीन कला सहित उदित हुआ है
यह बढ़-बढ़ कर केवलज्ञानरूपी सोलह कलायें खिलेंगी

[भेदज्ञानकला की अपूर्व महिमा दिखाकर, शुद्धात्मा के अनुभव का उत्साह जागृत करनेवाला वैसाख सुदी दोज का मंगल-प्रवचन]

धर्म की अपूर्व मंगल बात है। भेदज्ञान की छैनी के द्वारा अंतरंग में ज्ञायकस्वभाव को और राग को पृथक् करना, वह धर्म की रीति है। शुभाशुभ विकार और स्वभाव को एक मान रहा है, वह जीव की भूल है, वह भूल कैसे मिटे ? वह बाहर की क्रिया से या राग के विकल्प से नहीं मिटती; किंतु स्वभाव और विभाव के विवेक द्वारा ही वह भूल मिटती है। 'मैं शुद्ध चिदानंद हूँ' इसप्रकार अंतर्मुख परिणति के द्वारा अनुभव करना—ऐसी जो ज्ञान-कला है, वही भूल को मिटाने का उपाय है, और वही आत्मा को प्रथम अपूर्व धर्म है।

आत्मा ने चैतन्य धातु को निज स्वभाव में धारण कर रखा है, विकार को नहीं धारण कर रखा है, उसे तो स्वभाव से दूर रखा है। जिसप्रकार सुवर्ण ने अपना पीतत्त्व आदि स्वभाव को धारण कर रखा है, उस ही प्रकार चिदानंदस्वभावी आत्मा ने अपने ज्ञानादि शुद्ध स्वभावों को धारण कर रखा है। किंतु विकार को अपने किसी स्वभाव में नहीं धारण कर रखा है। ऐसे स्वभाव को पहिचानने पर अपूर्व सम्यग्दर्शन और बोधि बीज प्रगट होता है। यह भेदज्ञान की दोज जहाँ उदित हुई, वहाँ केवलज्ञानरूपी पूर्णिमा प्रगट हुए बिना नहीं रहती। यह भेदज्ञानरूपी दोज की खुशियों की भेंट है। चंद्र सोलह कलाओं से खिलता है; वैसे चैतन्यस्वभाव की प्रतीतिरूपी दोज प्रगट होने के बाद अनुक्रम से साधकदशा बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूपी पूर्ण कला खिलती है।

अमावस्या हो तो भी चंद्र की एक कला तो प्रगट होती ही है, वह सर्वथा कभी भी आवृत नहीं होती; एकम को दो कला, दूज को तीन कला इस प्रकार बढ़कर पूर्णिमा को सोलह कला खिलती है, उसीप्रकार चिदानंदस्वभाव की सम्यग्दर्शनरूपी दूज जहाँ प्रगट हुई, वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की कला एक साथ है, तीनों के अंश चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो

जाते हैं; वह क्रमशः बढ़कर पूर्ण केवलज्ञानरूपी सोलह कला होने पर सादि-अनंत अवस्थित रहती है, वह मंगल है और उनके कारण भेदविज्ञानरूपी दूज भी मंगल है।

यह भेदविज्ञान धर्म की अपूर्व क्रिया है; वही धर्मों का कार्य है, उसी का ही धर्मी जीव कर्ता है। इसप्रकार आत्मिक धर्म में कर्ता-कर्म और क्रिया तीनों अभिन्न हैं। क्रिया के तीन प्रकार हैं—देहादि की क्रिया, वह जड़ की क्रिया है, जो आत्मा से सर्वथा भिन्न है। देहादि परद्रव्य की क्रिया मेरी और रागादि भाव मेरा स्वरूप है - ऐसी जो मिथ्याबुद्धि, वह जीव की विकारी-अशुद्ध क्रिया है, अधर्म है। और पर से तथा रागादि से भिन्न निजस्वरूप में अंतर्मुख परिणति करने पर जो शुद्धता के अंश प्रगट होते हैं, वह धर्म की क्रिया है।

प्रश्न—अज्ञानी जीव ने उन तीन क्रियाओं में से कौन सी क्रिया की है ?

उत्तर—अज्ञानी ने शुभाशुभ विकार के कर्तापनेरूप एक अशुद्ध क्रिया ही अनादि से की है; जड़ की क्रिया वह कभी भी कर सकता नहीं और धर्म की क्रिया को कभी पहिचानता नहीं। भाई ! तेरी सच्ची हित की क्रिया तो यह भेद-विज्ञान करना है।

स्व-पर के भेद का भावभासन होने पर परिणति स्वसन्मुख हो तो धर्म की क्रिया होती है।

प्रश्न—ऐसा भेदज्ञान करना तो कठिन है ?

उत्तर—अनभ्यास के कारण कठिन है, फिर भी अशक्य तो नहीं है न ? प्रयत्न द्वारा हो सके ऐसा है। अतः अंतर्मुख अभ्यास के द्वारा ऐसा भेदज्ञान हो सकता है। तूने कभी सच्चा अभ्यास अंतर में किया ही नहीं। कठिन वस्तु भी अभ्यास के द्वारा साध्य हो जाती है। कठिन पत्थर भी डोरी के सतत संपर्क द्वारा घिस जाता है; तो समझदार चेतन तत्त्व का अनुभव अत्यंत कठिन होने पर भी, स्वानुभव के सतत अभ्यास के द्वारा वह अनुभव हो सकता है किंतु उनके लिये दूसरों का प्रेम छूटकर चेतन का परम प्रेम जागृत करना चाहिये।

जिसे चेतन स्वभाव का प्रेम नहीं है, रागादि का प्रेम है, उसे चेतन के ऊपर क्रोध है, अरुचि है, अतः अपने पर ही अपना क्रोध है, तिरस्कार है। अपने स्वभाव की अरुचि का नाम क्रोध है। ऐसा क्रोध हो, वहाँ तो चैतन्य का अनुभव कहाँ से हो ? किंतु जिसने राग की रुचि छोड़कर चैतन्य का प्रेम प्रगट किया, उसे अंतरंग अभ्यास के द्वारा, अत्यंत दुर्लभ ऐसा चैतन्य अनुभव भी सुलभ हो जाता है। और ऐसा अनुभव करना, वही करनेयोग्य है जो तेरे स्वतंत्र अधिकार की बात है।

भैया! महिमा तो स्वभाव की होना चाहिये या विकार की? महिमावंत ही अपना ज्ञायकस्वभाव है, इसके पहिचान के बिना वह कठिन लगता है, किंतु उसी स्वभाव की महिमा ख्याल में आने पर स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है। अत्यंत कठिन होने पर भी उग्र प्रयत्न के द्वारा वह भेदविज्ञान करता है, अनंत आत्माओं ने इस भाँति भेदज्ञान करके मुक्ति पायी है। यह कुछ न हो सके, ऐसा नहीं है। अपार महिमावंत और दुर्लभ है, यह बात सच्ची किंतु सच्चे पुरुषार्थ के द्वारा भेदज्ञान करने पर उसकी प्राप्ति अवश्य होती है।

'सर्व जीव है सिद्ध सम, जो समझे वह होय'

स्वभाव समझने पर सिद्ध परमात्मपद प्रगट करने का पंथ (उपाय) हाथ में आता है। किंतु यदि विचार ही न किया जाये, समझने की परवाह ही न करे, उसे चैतन्य का अनुभव कहाँ से हो? समझ के उद्यम द्वारा भेदविज्ञान होने पर अंदर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की निर्मलता का अंश के साथ अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है। ऐसा अनुभव होने पर मोक्षमार्ग शुरु हुआ। वह अपूर्व धर्म है और वही अपूर्व मंगल है।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंदरूप है, उसको भूल करके अनादि से विकार का अनुभव है। उस अनुभव को वास्तव में भगवान 'आत्मा' कहते नहीं। आत्मा तो उसे कहते हैं कि जिसके वेदन में अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद का स्वाद आये। जिसके वेदन में आनंद न आवे, उसे आत्मा कैसे कहा जाये? शुद्धनय तो परभाव से भिन्न आत्मानंद अनुभव को प्रसिद्ध करता है।

आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप समझने के लिये चारों गतियों में कोई दृष्टांत नहीं, चारों गतियों के वेदन से चैतन्यस्वभाव का अतीन्द्रिय सुख का वेदन कोई जुदी जाति का है। आत्मा नित्य ज्ञानानंदस्वरूप है, कोई जीव को अपने पूर्व भव के संस्कारों की याद देखने में आती है, परंतु आत्मा के आनंद का अनुभव तो उसके सिवाय अंतर की दूसरी ही वस्तु है। पूर्वभव का स्मरण होना, वह दूसरी चीज़ है और स्वभाव का अनुभव होना, ये दूसरी चीज़ है। पूर्वभव का स्मरण कई बार अज्ञानियों को हुआ है, उसमें कोई अपूर्वता नहीं है; अपूर्वता तो आत्मानुभव में होती है। धर्मी को जातिस्मरणज्ञान हुआ, उसमें तो पूर्व भव के धर्म के संस्कार भी ताजे रहते हैं। और विशेष ज्ञान-वैराग्य का कारण होता है। देह से भिन्न चैतन्य के अनुभवपूर्वक जीवन जीना जिसे आता है, उसे समाधिमरण यथार्थ होता है। जिसने देह से भिन्न भेदज्ञानमय जीवन जाना नहीं, उसे देह छूटते समय समाधिमरण नहीं होता। देह में एकत्वबुद्धि

से तो मृतक कलेवर में मूर्च्छा कही है। देह में मूर्च्छा सहित का जीवन और चैतन्य का जीवन कैसे होता है, जिसकी खबर नहीं।

नारियल में जिसप्रकार सफेद और मीठा गोला जो ऊपर के छिलके तथा काचली और ललाई से भिन्न, उसप्रकार चैतन्य-गोला देहरूपी छिलका, कर्मरूपी काचली और रागरूपी ललाई से पृथक्, अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ है; ऐसे उत्तम आत्मा को जानना अनुभवन करना, वही उत्तम फल है।

प्रश्न—आत्मा शुद्ध किसप्रकार होता है ?

उत्तर—शुद्धस्वभाव का अनुभव करने से जीव शुद्धता को प्राप्त होता है। किसी शुभाशुभराग द्वारा शुद्धता की प्राप्ति नहीं होती। स्वभाव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी कहते हैं कि—हम जहाँ खड़े हैं, उस स्थान का जगत को पता नहीं है; और जगत देख रहा है, उसमें हम नहीं हैं; जगत धर्म की परीक्षा करने जाये तो बहुतजन तो बाह्य की क्रिया को या राग को देखते हैं किंतु उसमें तो ज्ञानी को स्वपना है ही नहीं। ज्ञानी को जिसमें स्वपना है, ऐसे असंयोगी शुद्धतत्त्व को अज्ञानीजन जानते नहीं। ज्ञानी की परिणति तो चैतन्य प्रभु के साथ संलग्न है। वह अब दूसरे किसी के साथ प्रीति नहीं करती। चैतन्य की प्रीति और लगनी लगाने से उसमें लीन होकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्राप्त करेगा ही।

आनंद का मार्ग भी आनंदरूप है। 'मोक्ष' परम आनंद धाम है और उसका मार्ग भी आनंद धाम में ही है। राग तो आकुलता का धाम है, वह कुछ आनंद का धाम नहीं, इससे उसमें 'मोक्षमार्ग' नहीं। जैसे मोक्ष आनंदस्वरूप है, वैसे ही उसका मार्ग भी आनंदस्वरूप है, इसमें आकुकलता को स्थान नहीं है, इसमें राग को स्थान नहीं। राग राग में है, मोक्षमार्ग में नहीं। जो भाव मोक्षमार्गरूप है, उसमें राग का अभाव है। राग आनंद-दाता नहीं, दुःखदाता ही है; मोक्षमार्ग तो आनंददाता है, दुःखदाता नहीं।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते

स्वानुभूति करनेवाला भाव, जिसका स्वानुभव करना है, उसी जैसा शुद्ध हो—एक जाति के होकर दोनों तद्रूप हों—तभी स्वानुभूति हो सकती है।

जिसकी स्वानुभूति करना है, उससे विपरीत भाव द्वारा—भिन्न भाव द्वारा—उसकी स्वानुभूति नहीं हो सकती।

जैसे कि—

—राग की अनुभूति वीतरागभाव द्वारा नहीं हो सकती।

— राग की अनुभूति करनेवाला भाव रागरूप ही होता है।

— वीतरागभाव में राग की अनुभूति नहीं होती;

उसीप्रकार शुद्धात्मा की वीतरागी अनुभूति रागभाव द्वारा नहीं हो सकती।

— शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाला भाव, रागरूप नहीं होता; परंतु शुद्धात्मा की जाति का ही वीतरागभाव होता है।

— रागभाव में वीतरागभाव की अनुभूति नहीं होती।

— ज्ञानस्वभाव की अनुभूति ज्ञानमयभाव द्वारा ही होती है; अज्ञानमय (विकार) भाव द्वारा वह अनुभूति नहीं होती।

— आनंदस्वभावी आत्मा का अनुभव आनंदमयभाव द्वारा होता है, आकुलता द्वारा नहीं होता।

— अहा, वस्तुसन्मुख होकर उसमें डूबा हुआ भाव ही वस्तु का अनुभव करता है; वस्तु से बाहर का कोई भाव वस्तु का अनुभव नहीं कर सकता।

निर्विकल्प अनुभूति की जय हो!

एक क्षण के स्वानुभव से ज्ञानी के जितने कर्म छूटते हैं, अज्ञानी के लाखों उपाय करने पर भी उतने कर्म नहीं छूटते। इसप्रकार सम्यक्त्व और स्वानुभव की कोई अचिंत्य महिमा है—ऐसा समझकर हे जीव, उसकी आराधना में तत्पर हो।

उस पार

[रचयिता – स्व० भगवत् जैन के अनुज वसंतकुमार-एत्मादपुर]

सुख से भरा अगाध विशद है, अचल अनुप शिवधाम सखे।
गह अपनी भूतार्थ निधी नित, तज सब बंधन-हेतु सखे॥

क्षुधा, तृषा आशा नहिं किंचित् करना जहाँ प्रणाम नहीं।
आत्मोत्पन्न अतिशय अबाध-सुख आकुलता का काम नहीं॥
अजर अमर गुणनिलय स्वयंभू रोष-तोष का नाम नहीं।
निरावर्ण, आदर्श भविन के, संतों का विश्राम सही॥

रहता है गुणलीन ब्रह्म जो निज पर को सुखकार सखे!
छोडो, देह नेह का बंधन, चलो! चलें उस पार सखे!!

जहाँ-रम्य, सौन्दर्य अनूपम, किंतु नहीं है हरियाली।
सुख के पादप, गुण-प्रसून हैं-सुरभित है डाली-डाली॥
वह अविनाशी विशद् वाटिका, है अनंत शोभावाली।
वही भाग्यशाली सु-संत है-जो नर उसका वनमाली॥

सहजानंदी शुद्धस्वरूपी अविनाशी निजरूप सखे।
छोड़ो, देह नेह का बंधन, चलो! चलें उस पार सखे॥

मोह क्षोभ वर्जित, चिन्मूरत, होती नहीं जहाँ हलचल।
अवर्णीय, असीम सुख पाता, यह चर जीवन के प्रति पल॥
अजर, अमर सुखधाम मनोहर, रूप, संपदा सौम्य-सरल।
'भगवत' जहाँ जीव रहता है, निरालंब, निष्कल, निश्चल॥

या स्वतंत्रता, अविनाशी को पावें सौख्य अपार सखे।
छोड़ो देह नेह का बंधन, चलो! चलें उस पार सखे॥

'निर्विकल्प-अनुभव' समय का विशिष्ट आनंद

धर्मात्मा को स्वानुभव में जो आनंद है, अज्ञानी को उसकी कल्पना भी नहीं आ सकती। विश्व से विमुख होकर एक निजात्मा में ही जब परिणाम एकाग्र होता है, तब अन्य जानने की अपेक्षा से विशेषता भले ही न हो, लेकिन स्वरूप में तन्मय उपयोग से कोई अचिंत्य वचनातीत आनंद का वेदन होता है। आत्मा के स्वानुभव के आनंद की यह बात मुमुक्षु को बराबर समझने जैसी है।

प्रश्न—जो सविकल्प और निर्विकल्पदशा में जानने की विशेषता नहीं, तो अधिक आनंद किसप्रकार होता है ?

समाधान—सविकल्पदशा के समय ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप प्रवर्तित था, वह निर्विकल्पदशा में केवल आत्मा को ही जानने में प्रवर्तित होता है—एक तो यह विशेषता है; दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम विविध विकल्प में परिणमन करते थे, वे केवल स्वरूप में ही तादात्म्यरूप होकर प्रवर्तित हुये, यह दूसरी विशेषता हुई। ऐसी विशेषताओं के होने से कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनंद होता है कि जिसके अंश की जाति अल्प भी विषयों के सेवन में नहीं; उससे उस आनंद को 'अतीन्द्रिय' कहते हैं।

धर्मी जीव सविकल्पदशा के समय आत्मा का जो स्वरूप जानता था, वही निर्विकल्पदशा के समय जानता है। निर्विकल्पदशा में कुछ विशेष प्रकार से जाना, ऐसी विशेषता नहीं, तो भी सविकल्प की अपेक्षा निर्विकल्पदशा की विशेष महिमा करते हो तो उसका क्या कारण ? उसमें ऐसी कौन सी विशेषता है कि स्वानुभव की इतनी अधिक महिमा शास्त्रों ने गायी है ? वह बात यहाँ बतलायी गयी है। भाई, स्वानुभव के समय 'ज्ञान उपयोग' अपने शुद्ध आत्मा को ही स्वज्ञेय करके उसमें स्थिर हो गया है, पहिले वह उपयोग बाहर के अनेक ज्ञेयों में और विकल्पों में घूमता था, वह मिटकर अब उपयोग अपने स्वरूप को-एक को-ही जानने में एकाग्र हुआ। एक तो यह विशेषता हुयी; और दूसरी विशेषता यह हुयी कि पहिले सविकल्प दशा के समय अनेक प्रकार के राग-द्वेष-शुभाशुभ परिणाम होते थे,

स्वानुभव के समय शुद्धोपयोग होने से बुद्धिपूर्वक होनेवाले समस्त रागादि परिणाम छूट गये। केवल निज स्वरूप में ही तन्मय परिणाम हुये। ऐसी विशेषता के कारण (जाति अपेक्षा) स्वानुभवकाल में सिद्ध भगवान-जैसा जो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनंद अनुभव में आता है, वह वचनातीत है, जगत के किसी भी पदार्थ में उस सुख का अंश भी नहीं। इन्द्रियजनित सुखों की अपेक्षा इस सुख की जाति ही जुदी है; यह तो आत्मजनित सुख है; आत्मा के स्वभाव में से उत्पन्न हुआ है। जितनी वीतरागता हुई है, उतना आत्मिक सुख तो सविकल्पदशा के समय भी धर्मी को होता है परंतु निर्विकल्पदशा के समय उपयोग निजस्वरूप में तन्मय होकर जिस अतीन्द्रिय परम आनंद का वेदन करता है, उसकी कोई खास विशेषता है। अहा, स्वानुभव का आनंद क्या है, उसकी कल्पना अज्ञानी को नहीं आती। जिसने अतीन्द्रिय चैतन्य को कभी देखा नहीं, जिसने इन्द्रिय विषयों में ही आनंद माना है, उसको स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनंद की गंध भी कहाँ से हो ? अरे, ऐसे स्वानुभव की चर्चा भी जीव को दुर्लभ है। जिसने ज्ञान को बाह्य-इन्द्रियों के विषयों में ही घुमाया है, ज्ञान को अंदर में झुकाकर अतीन्द्रिय वस्तु को कभी लक्षगत नहीं की, उसको उस अतीन्द्रिय वस्तु के अतीन्द्रिय सुख की कल्पना भी कहाँ से आये। पलाश वृक्ष की गिलहरी आम का स्वाद कहाँ से जाने ? ज्ञानी ने चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को जाना है, उसका अपूर्व स्वाद चखा है, वह सुख उसको निरंतर रहता है, उसके बाद यहाँ तो निर्विकल्पदशा में उसको आनंद की जो विशेषता है, उसकी बात है।

शंका—हम तो गृहस्थ हैं; गृहस्थ को ऐसे स्वानुभव की बात कैसे समझ में आये ?

समाधान—भाई, स्वानुभव की यह चिट्ठी लिखनेवाले स्वयं भी गृहस्थ ही थे; और जिनके लिये यह चिट्ठी लिखी है, वे भी गृहस्थ ही थे; अर्थात् गृहस्थों को समझने में आये वैसी यह बात है। आत्मा का सत्य ज्ञान तो गृहस्थ को भी हो सकता है। मुनिदशा-जैसी स्वरूप स्थिरता गृहस्थ को न हो, परंतु 'आत्मा का ज्ञान' मुनिदशा-जैसा ही गृहस्थदशा में भी हो सकता है, उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। और ऐसा आत्मज्ञान करे, उस ही गृहस्थ को धन्य कहा है; श्री कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि हे श्रावक ! तू निर्मल सम्यक्त्व को ग्रहण करके, निरंतर उसका ही ध्यान कर। ऐसा सम्यक्त्व गृहस्थ को हो सकता है, तब ही वैसा कहा है न ? इसलिये सच्ची जिज्ञासा प्रगट कर समझना चाहता है, तो उसको स्वभाव की बात अवश्य समझ में आ जायेगी। यह कथन सूक्ष्म तो लगता है, लेकिन इसके समझने से ही आत्मा का कल्याण है,

इसलिये आत्मा के सम्यक्त्व की और स्वानुभव की बात बराबर समझने जैसी है।

प्रश्न—यह समझकर फिर क्या करना ? २४ घण्टे का कार्यक्रम क्या ?

उत्तर—भाई, धर्मात्मा को चौबीसों घण्टे का यह ही कार्यक्रम है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का सेवन करना, और परभावों का सेवन छोड़ना। चौबीसों घण्टे में धर्मात्मा प्रतिक्षण यह स्वभाव सेवन का कार्य कर रहा है। और अज्ञानी चौबीसों घण्टे में प्रतिक्षण परभाव का सेवन कर रहा है। बाहर के काम तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई एक क्षण भी नहीं करता।

सम्यग्दर्शन होने के बाद धर्मी का उपयोग कभी स्व में होता है और कभी पर में होता है। एक सा उपयोग स्व में नहीं रहता, परंतु सम्यक्त्व का परिणमन निरंतर एक सा रहता है। वह सम्यक्त्व स्व उपयोग के समय प्रत्यक्ष और पर उपयोग के समय परोक्ष—ऐसा भेद उसमें नहीं; अथवा स्वानुभव के समय वह उपयोगरूप और पर की ओर उपयोग के समय लब्धिरूप-ऐसा भेद भी सम्यक्त्व में नहीं। सम्यक्त्व में तो क्षायोपशमिक आदि भेद हैं, और वह सविकल्पदशा के समय भी होता है। सम्यग्दर्शन होते वक्त की जितनी शुद्ध परिणति तो शुभाशुभ समय भी धर्मी को बराबर रहती है।

सम्यग्दर्शन रहे, वहाँ तक वह जीव हमेशा निर्विकल्प अनुभूति में ही रहे - ऐसा नहीं। उसको शुद्धात्म प्रतीति हमेशा रहे, लेकिन 'अनुभूति' तो किसी समय ही होगी, मुनि को निर्विकल्प अनुभूति लगातार (एक सी) नहीं रहती, लगातार कुछ बड़े अंतर्मुहूर्तकाल तक निर्विकल्प रहे, तो केवलज्ञान हो जाये।

'स्वानुभूति' ज्ञान की स्व-उपयोगरूप पर्याय है। सम्यग्दर्शन की उस उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ विषम व्याप्ति है, अर्थात् एक पक्ष के ओर की व्याप्ति है। जैसे केवलदर्शन और केवलज्ञान की, अथवा आत्मा और ज्ञान की, तो सम व्याप्ति है, अर्थात् जहाँ दोनों में से एक हो, वहाँ दूसरा भी होता ही है; और एक न हो, वहाँ दूसरा भी नहीं ही होता, ऐसे दोनों का परस्पर अविनाभावी संबंध है, उसको 'समव्याप्ति' कहते हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन और निर्विकल्प स्वानुभूति की ऐसी समव्याप्ति नहीं, लेकिन विषम व्याप्ति (एक पक्ष के ओर का अविनाभाव) है; अर्थात् जहाँ निर्विकल्प अनुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। और जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता, वहाँ अनुभूति नहीं ही होती - ऐसा नियम है। परंतु—

जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ अनुभूति भी सदा होती ही है, और जहाँ अनुभूति नहीं होती, वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं ही होता, ऐसा कोई नियम नहीं।

जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति रहे भी अथवा नहीं भी रहे, और जहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति न हो, वहाँ सम्यक्त्व हो भी अथवा नहीं भी हो।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय तो निर्विकल्प स्वानुभूति होती ही है, यह नियम है। उसके बाद के समय में सम्यक्त्वी को वह अनुभूति किसी समय हो, किसी समय न भी हो; लेकिन 'शुद्धात्म प्रतीति' तो सदैव होती ही है। जब उपयोग को अंदर स्थिर कर निर्विकल्प स्वानुभव में परिणाम को मग्न करे, तब उसको कोई विशिष्ट आनंद का वेदन होता है।

साधक को इस स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान हैं, इस अपेक्षा से उसको भले ही परोक्ष कहा, परंतु स्वानुभव के आनंद का आंशिक वेदन तो मति-श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी-जैसा साक्षात् है; आनंद का वेदन कुछ परोक्ष नहीं। इसलिये स्वानुभव को 'प्रत्यक्ष' कहा है। जैसे अंध व्यक्ति मिश्री (शर्करा) के रंग वगैरह को नजर से नहीं देखता, उस अपेक्षा से उसको मिश्री 'परोक्ष' है परंतु मुँह में जिस मीठे स्वाद का उसको वेदन होता है, वह स्वाद कुछ परोक्ष नहीं, वह तो जैसे देखनेवाले व्यक्ति को स्वाद आये, वैसा ही स्वाद अंध व्यक्ति को आता है, उस स्वाद की जाति में कोई फर्क नहीं, और स्वाद का वेदन कुछ परोक्ष नहीं। वैसे मति-श्रुतज्ञानी असंख्य आत्मप्रदेश वगैरह को केवली प्रभु के जैसे 'प्रत्यक्ष' भले न देखे, उस अपेक्षा से उसको आत्मा 'परोक्ष' है, परंतु स्वानुभव में आत्मा के आनंद का जो अतीन्द्रिय स्वाद मतिश्रुतज्ञानी को चौथे गुणस्थान में आता है, वह तो स्वयं साक्षात् वेदन करता है; प्रत्यक्ष ज्ञानी जैसे आनंद का वेदन करता है, वैसा ही आनंद स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञानी वेदन करता है। उसमें कम-ज्यादा भले ही हो, लेकिन आनंद के वेदन की जाति में कुछ फर्क नहीं, और उस आनंद का वेदन कुछ 'परोक्ष' नहीं। इसलिये स्वानुभव को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

निर्विकल्प स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा तथा उसमें आनंद की खास विशेषता कही, इस प्रकार उसकी बहुत महिमा की, तो ऐसा स्वानुभव किस गुणस्थान में होता है ? किन्हीं बड़े मुनियों को ही ऐसा स्वानुभव होता होगा, अथवा किसी गृहस्थ को भी होता होगा ? ऐसा प्रश्न उठे तो उसके समाधान के लिये आगामी अंक में पढ़ें। (क्रमशः)

अहिंसा और सैनिक

[लेखक-स्व० बाबू कामताप्रसादजी जैन, वीरपाठावलि में से]

जिनेन्द्र भगवान की धर्मदेशना में मुमुक्षुओं ने सुना—''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों के व्यपरोपण को 'हिंसा' कहते हैं। 'प्रमाद' शब्द का अर्थ काम क्रोधादिक विकार, 'प्राण' शब्द का अर्थ आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान-विवेक आदि सद्गुण और 'व्यपरोपण' शब्द का अर्थ घात है। इसलिये हिंसा वही है जिसमें क्रोधादि विकारों के योग से अपनी, पर की आत्मा के विवेक और सद्गुणों का घात हो और वह दो प्रकार की है, (१) भाव हिंसा, और (२) द्रव्य हिंसा। रागादिक भावों के कारण भावप्राणों का नाश होना 'भावहिंसा' है। मन में किसी के भले-बुरे का ध्यान करना अथवा क्रोधादि करना—यह सब भावहिंसा है; शुभाशुभ रागादि की उत्पत्ति भी निश्चय से हिंसा है, वीतरागविज्ञानमय जितना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उतनी अहिंसा है और 'द्रव्य हिंसा' प्राणी के कायिक नाश अथवा कष्ट देनें में गर्भित है। मुमुक्षुओं को दोनों प्रकार की हिंसा से बचना चाहिये।''

एक शिष्य बोला—'प्रभो! जब लोक में जंतु ही जंतु भरे हुए हैं, तब हिंसा से बचना कैसे संभव है?'

जिनेन्द्र की वाणी में उत्तर मिला, ''वत्स! लोक के सूक्ष्म प्राणी तो किसी से घाते ही नहीं जाते और स्थूल प्राणियों में जिनकी रक्षा की जा सकती है, उनकी की ही जाती है। याद रक्खो, भावहिंसा के बिना द्रव्यहिंसा, हिंसा नहीं है। यत्नाचारपूर्वक अपना बर्ताव रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाये तो वह हिंसा नहीं है, क्योंकि प्राणी के भाव हिंसारूप नहीं थे। भाव और द्रव्य दोनों प्रकार की हिंसा का मन, वचन, काय से त्याग करना अहिंसा है। अहिंसा का पालन करना सुगम है।''

शिष्य ने फिर पूछा—''यह कैसे संभव है कि जीवन-संग्राम में पूर्ण अहिंसक बनकर कोई जीवन तैर कर पार कर सके।''

वाणी में सुनाई पड़ा—''मोह का पर्दा प्राणियों के विवेक पर पड़ा हुआ है। इसलिये वह सत्य की उपासना करने से डरते हैं। जिन महानुभावों के विवेक नेत्र खुल गये हैं, वह

अहिंसा का पूर्णतया पालन करते हैं, किंतु फिर उन्हें दुनियादारी से कुछ मतलब नहीं रहता–वह परमार्थ के रास्ते लग जाते हैं। उनका यह नियम 'अहिंसा महाव्रत' है। इस 'महाव्रत' का पालन बेशक हर कोई नहीं कर सकता। साधारण प्राणी 'सत्य' से भटका हुआ है – वह संसार के ममता–जला में फँसा हुआ है। उसके लिये अहिंसा का आंशिक पालन करना ही पर्याप्त है। यह गृहस्थों का 'अहिंसा अणुव्रत' है। इसको पालते हुये प्रत्येक प्राणी जीवनसंग्राम में सफल सैनिक बन सकता है, केवल उसे जान बूझकर संकल्प करके किसी के प्राणों की हिंसा करने का त्याग करना होगा।''

एक सैनिक इस धर्मोपदेश को सुनकर बड़े असमंजस में पड़ गया–वह हैरान था–युद्ध में तो उसे जानबूझ कर नर–हत्या करनी पड़ती है; फिर वह अहिंसक कैसा ? आखिर उसने भी अपनी शंका भगवान के सामने उपस्थित कर दी। उस पर फिर वाणी खिरी और सैनिक ने सेना—

''वत्स! जीवन एक संघर्ष है और गृहस्थ को उसमें अपने पुरुषार्थ को प्रगट करना उचित है। यदि गृहस्थ यह न करे और कायर बन जाये, तो वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाये। तीर्थंकरों का धर्म कायरों के लिये नहीं है – नि:शंक वीर ही उसका पालन कर सकते हैं। किसी प्रकार का भय ऐसे वीर को छू नहीं जाता। बस, जो स्वयं अभय है, वह दूसरों को अभय बनाना धर्म समझेगा अर्थात् ऐसा राग उसे आयेगा। उसकी असिवृत्ति अर्थात् तलवार का जोर इसी धर्मकार्य के लिये है और तीर्थंकरों ने असि कर्म को आजीविकोपार्जन के कार्यों में बतलाया है। प्राणीरक्षा अथवा राष्ट्रोद्धार के लिये युद्ध करना लोक में धर्म का एक अंग माना गया और उसका पालन करना प्रत्येक सैनिक का कर्तव्य है। एक क्षत्रिय अथवा सैनिक का अहिंसाव्रत मात्र इतना ही है कि वह निरर्थक हिंसा न करे 'निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मता:।' अत: युद्ध में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह क्रोध, स्वार्थ, मान और दर्प के कारण न लड़ा जाये!''

सैनिक ने कहा—''अनाथनाथ! यह तो समझा; किंतु मूल में युद्ध नर–हत्या की खान है। उस हिंसा से मुक्ति कैसे मिले ?''

सैनिक ने सुना—''ठीक है वत्स! जानते हो धर्म में भाव अथवा परिणाम की प्रधानता है ? यह मानी हुई बात है कि बिना भाव के मन में निश्चयात्मक विचार हुए बिना कोई कार्य

नहीं हो सकता। अच्छा; तो अब यह स्पष्ट है कि बुराई भलाई और पुण्य-पाप अच्छे-बुरे भावों पर निर्भर है। अब देखो, जो धर्मयुद्ध लड़ा जाता है, उमें कौन सा मूल भाव प्रेरक है ? यही न कि सभय को अभय बनाया जाये, अत्याचार और अधर्म को मेटा जाये, सचमुच इस भाव में क्रूरता जरा भी नहीं है। तीर्थंकरों ने इसे करुणाभाव कहा है, क्योंकि दीनोद्धार की बुद्धि इसमें कार्यकारी है (दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्) भला, इसमें भाव-हिंसा कहाँ है ? और जब भावहिंसा नहीं, तब द्रव्यहिंसा हिंसा ही नहीं है, यह तुम जानते हो! एक वैद्य सावधानी से फोड़ा चीर रहा है - बड़ी बेदर्दी से उसके हाथ शरीर की काट-छांट में लगे हुए हैं। भला बताओ, क्या वह हिंसा करता है ?''

सैनिक—'नहीं, वह तो रोगी की रक्षा के लिये शरीर की काट-छांट करता है।'

'मान लो इस चीर फाड़ में उस रोगी की मृत्यु हो गई तो क्या तुम उस वैद्य को नर-हत्या का दोषी कहोगे ?'

सैनिक—'नहीं प्रभो! वैद्य तो रोगी को भला-चंगा करने का ही उद्योग कर रहा था।'

''बस ठीक यही बात धर्मयुद्ध में है। वहाँ भी परोपकार की दयालु वृत्ति अपना काम करती है। इसलिये वह हिंसा नहीं है। हिंसा संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी, इसप्रकार चार प्रकार की है। गृहस्थी संकल्पी अर्थात् जानबूझकर—'यह चींटी है; इसे मार डालूँ' इसप्रकार की हिंसा का त्यागी है। घर गृहस्थी के काम में होनेवाली 'आरंभी' हिंसा, वणिज-व्यापार में होनेवाली 'उद्योगी' हिंसा और अपने पराये तथा धर्म-देश की रक्षा के निमित्त होनेवाली 'विरोधी' हिंसा का वह त्यागी नहीं है। इसप्रकार की हिंसा के विचार से वह अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होता क्योंकि वह उसकी कक्षा से ऊपर की है।

अहिंसा कर्म का यही रहस्य है। उसे सच्चे सैनिक पाल सकते हैं। तीर्थंकर श्री अरहनाथ, शांतिनाथ और कुंथुनाथ ने स्वयं अपने हाथ में तलवार लेकर छहों खण्ड पृथ्वी को जीता था। उन्होंने यह 'दिग्विजय' मात्र अधर्म और अत्याचार को मेटने के लिये की थी। इसलिये प्रत्येक प्राणी को-चाहे वह सैनिक हो या अन्य, कुछ अहिंसा धर्म का पालन करना सुगम और आवश्यक है। यह लोक का कल्याण कारक है।''

सर्वज्ञ वीतराग कथित सज्जनता के द्वारा अधर्मपना छोड़ा जा सकता है

कविवर बनारसी–समयसार नाटक बन्ध द्वार काव्य नं० २१ में:—

अधम पुरुष

जैसे रांक पुरुष के भायैं कानी कोडी धन,
उलूवा कै भायें जैसे सँझाई विहान है;
कूकर के भायों ज्यों पिंडोर जेरवानी मठा,
सूकर कै भायें ज्यों पुरीष पकवान है।

(पुरीष=विष्टा)

वायस कै भायें जैसे नींब की निबोरी दाख,
बालक के भायैं दंत कथा ज्यों पुरान है।
हिंसक को भायैं जैसैं हिंसा में धरम तैसै,
मूरिख के भायै शुभ–बन्ध निरवान है॥२१॥

अर्थ—अधमता कैसी है ? दृष्टांत द्वारा दिखाया है। जैसे रंक को कानी कौड़ी भी धन है, घूघू – उलूक को जैसे रात्रि की संध्या ही प्रभात है, इष्ट लगती है। कुत्ते को वमन ही दही के समान रुचिकर, कौवे को नीम की निंबोरी दाख के समान प्रिय होती है, हिसंक को हिंसा ही धर्म दिखता है। उसीप्रकार मूर्ख को पुण्यबंध ही मोक्ष के समान प्रिय लगता है। [वह अज्ञानरूपी अंधेरा सर्वज्ञ वीतराग कथित सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा ही छूट सकता है। निज शुद्धात्मा के अनुभव ज्ञान बिना कोई भी दोष वास्तव में नहीं मिटेगा।]

विविध-वचनामृत

[लेखांक-५]

(विविध वचनामृत का यह विभाग प्रवचनों से, विविध शास्त्रों से तथा रात्रिचर्चा आदि से तैयार किया जाता है ।)

(११५) धर्मात्मा का बहुमान

दुनिया में यदि कुछ माहात्म्य करनेयोग्य हो तो वह एकमात्र सर्वज्ञ प्रणीत धर्म और उसे धारण करनेवाले धर्मात्मा ही हैं; इसलिये उन्हीं का बहुमान करो। वे धर्मात्मा वर्तमान में कदाचित् निर्धनादि स्थिति में हों, तथापि अल्पकाल में जगत को बंद्य तीन लोक के नाथ होनेवाले हैं और वर्तमान में भी उनके पास जो साधकभाव है, उसकी तीन लोक के वैभव की अपेक्षा अधिक महिमा है। जिसे स्वयं धर्म प्रिय हो, उसे धर्मात्मा के प्रति बहुमान आता ही है। धर्मात्मा का बहुमान, वह धर्म का ही बहुमान है। धर्म, धर्मात्मा से पृथक् नहीं है।

(११६) अलिंगग्रहण आत्मा

प्रवचनसार गाथा १७२ में 'जानीहि अलिंगग्रहणं' कहकर आत्मा का अति सुंदर अलौकिक वर्णन किया है; वह अधिकार दर्शनशुद्धि का है; भेदज्ञान के अपूर्व रहस्य आचार्यदेव ने उसमें भरे हैं। वे रहस्य अपूर्वरूप से विचारणीय हैं। 'अलिंगग्रहण' भगवान आत्मा अलिंगग्रहण से ही अर्थात् विकल्परहित स्वसंवेदन से ही अनुभव में आता है। आत्मा का स्वभाव रागमय नहीं है, इसलिये राग द्वारा वह अनुभव में नहीं आता। आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है, ज्ञानमय होकर ही वह अनुभव में आता है।

(११७) जिनशासन

निश्चय से जो शुद्धात्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है, अर्थात् संपूर्ण जिनशासन 'आत्मा की अनुभूति' में आ जाता है। समस्त जिनशासन का अर्थात् सर्वश्रुत का सार यही है कि पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की अनुभूति करना। ऐसी अनुभूति द्वारा ही वीतरागता होती है।

(११८) वाह, आठ वर्ष का बालक!

अहा, आठ वर्ष का बालक जब आत्मा को जानकर, वैराग्य सहित मुनि होकर, हाथ में पींछी और कमंडल लेकर छोटे-छोटे डग भरता हुआ विचरता होगा... बड़े-बड़े श्रावक उसे कोमल हाथों में आहार कराते होंगे... फिर स्वरूपध्यान में लीन होकर वे छोटे-से मुनि केवलज्ञान उत्पन्न करते होंगे... वह धन्य दृश्य कैसा होगा? अहा, आठ वर्ष का बालक केवलज्ञानीरूप से आकाश में विचरता होगा... वह दिव्य दृश्य कैसा होगा?

(११९) आत्मा

— जो ज्ञानलक्षण से लक्षित हो, वह आत्मा।

— ज्ञानलक्षण से अनंत गुणस्वरूप आत्मा लक्षित होता है।

— ज्ञानलक्षण से राग लक्षित नहीं होता; इसलिये राग, वह आत्मा नहीं है; जो आत्मा नहीं, वह अनात्मा है।

(१२०) साथी

हे जीव! तेरे अनंत गुण ही तेरे सदा के साथी हैं, यह साथी ही तेरी दुःखों से रक्षा करनेवाले और तुझे सुख देनेवाले हैं। राग तेरा साथी नहीं है, वह तो तेरा विरोधी है; वह तुझे सुखदाता नहीं, किंतु दुःखदाता है; इसलिये उसका साथ छोड़!

(१२१) बालक

सोलह वर्ष से भी कम उम्र में एक बालक लिखता है कि—

'रात्रि व्यतीत हुई, प्रभात हुआ; निद्रा से जागृत हुए; अब भावनिद्रा टालने का प्रयत्न करना।'

—यह लिखनेवाले थे श्रीमद् राजचंद्र।

आत्मा की अनादि अज्ञानरूप भावनिद्रा कैसे दूर हो और सम्यग्ज्ञानरूपी अपूर्व प्रभात कैसे उदित हो, वह बात छोटे बालक भी समझ सकते हैं।

(१२२) अनुभव ज्ञान

लाखों वर्ष के शास्त्रज्ञान की अपेक्षा एक क्षण का अनुभव ज्ञान अति महान है।

(१२३) संतों ने भगवान से भेंट की है

कुन्दकुन्दस्वामी ने अंतर में सर्वज्ञस्वभाव से भेंट की थी; तदुपरांत बाह्य में भी

सीमंधरनाथ सर्वज्ञ परमात्मा से उनकी साक्षात् भेंट हुई थी... और साक्षात् सर्वज्ञ की वाणी झेली थी।

अमृतचंद्रस्वामी ने भी अंतर में सर्वज्ञ भगवान से भेंट की थी। सर्वज्ञस्वभाव में उतरकर सर्वज्ञ की वाणी के अचिंत्य रहस्य उन्होंने खोले हैं।—ऐसे संतों की वाणी इस समयसार में है।

(१२४) विलंब मत करना

भाई, संतों ने तुझे तेरा जो परमस्वभाव सुनाया और तूने प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वीकार किया... तो अब उसके अनुभव में विलंब मत करना।

(१२५) बाहुबलि दर्शन

पौष शुक्ला १० के दिन पूज्य गुरुदेव ने स्वप्न में आकाश में बाहुबलि भगवान के अद्भुत दर्शन किये। स्वप्न में उन अचिंत्य शक्तिवान बाहुबलिनाथ के साक्षात् दर्शनों से गुरुदेव को अत्यंत हर्षोल्लास हुआ था और गुरुदेव के मुँह से उस मंगलमय बाहुबलि दर्शन का वर्णन सुनकर भक्तजन भी हर्ष-विभोर हो उठते थे।

(१२६) अमूर्त... और चेतन

* पुद्गल मूर्त है, आत्मा अमूर्त है।
* मूर्तपना वह पुद्गल का असाधारण लक्षण है,

—परंतु—

* अमूर्तपना वह आत्मा का असाधारण लक्षण नहीं है।
* आत्मा का असाधारण लक्षण तो चेतना है।

(१२७) दुःख मिटाने की औषधि

मैं अन्न-जल आदि द्वारा सुविधा देकर दूसरों का दुःख मिटा दूँ—इसप्रकार जो संयोग से दुःख-सुख मानता है, उसे दुःख क्या है और उसका कारण क्या है ? उसी की खबर नहीं है; तो वह दुःख कहाँ से मिटायेगा ? अभी उसका अपना दुःख भी जो नहीं मिटा सकता, वह दूसरों का दुःख कहाँ से मिटायेगा ?

जीवों को दुःख तो अपने मोह का है। जो मोह को मिटायेगा, उसके दुःख मिटेगा। मोह को मिटाने का उपाय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा जिसने अपना मोह मिटाया, उसका दुःख मिटा और जिसने उस रत्नत्रय का उपाय दूसरों को

दर्शाया, उसी ने निमित्तरूप से दूसरों का दु:ख मिटाया कहा जाता है। जीव को प्रतिकूल संयोग का कोई दु:ख नहीं है और अनुकूल संयोग द्वारा कहीं उसका दु:ख मिट नहीं जाता, इसलिये दूसरों को अन्नादि अनुकूल सामग्री देकर मैं सुखी कर दूँ, यह बात नहीं रहती। सामनेवाला प्राणी स्वयं सम्यग्ज्ञान करे तो उसका दु:ख दूर हो। जिसने सम्यग्ज्ञान द्वारा मोह को दूर किया, उसको अनुकूल संयोग हों या न हों, तथापि वह सुखी ही है। इसलिये कहा है कि—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण

परिणामों से ही बंध और मोक्ष होता है

योगसार प्राकृत दोहा गाथा नं० १४ में आचार्यदेव योगीन्द्रदेव ने कहा है कि—

परिणामों से ही कर्म का बंध भगवान ने कहा है। वैसे ही परिणामों से ही मोक्ष होता है ऐसा जान, हे आत्मन् ऐसा समझकर तू उन भावों की पहचान कर।

विशेषार्थ—राग-द्वेष-मोह भाव बंध ही के कारण हैं। ज्ञानी को यह भले प्रकार समझना चाहिये, मुनिव्रत या श्रावक के व्रत का शुभराग या तप और भक्ति का राग, पठन पाठन का राग या पंच परमेष्ठी के मंत्रों के जप का राग, यह सब राग बंध ही का कारण है। [शरीर की क्रिया बंध-मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो निमित्तमात्र है।]

मोक्ष का कारणरूप भाव एक वीतरागभाव है अर्थात् शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय है। शुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा का ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय धर्म एक देश भी हो तो भी बंध का कारण नहीं है। [आधार-योगसार टीका सूरत में प्रकाशित, पृष्ठ ७०]

'प्रयोजन तात्पर्य-यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं, बन्ध ही के कारण हैं, मोक्ष का कारण एक शुद्धभाव वीतरागभाव, शुद्धात्माभिमुखभाव है, ऐसा श्रद्धान ज्ञानी को रखना चाहिये' (सूरत से प्रकाशित योगसार टीका, पृष्ठ ७१)

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं और न हो सकते हैं

[श्री रामजी माणेकचन्द दोशी]

लेखांक नं० २—

इसप्रकार आत्मा के परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव बतलाकर अब केवल 'स्वाश्रित ज्ञान' को ही मोक्ष का कारण बतलाते हैं। 'पुण्यपापाधिकार' का कलश १०३

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात्
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

अर्थ—सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्म को अविशेषतया बंध का साधन (कारण) मानते हैं, इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) समस्त कर्म का निषेध किया है और ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है ॥१०३॥

श्री परमाध्यात्म तरंगिणी में इसका अर्थ संस्कृत में निम्न प्रकार है:—

अविशेषात्—शुभाशुभयोः कर्मबंधनकारणात्वा भेदात्। तेन कारणेन, तत्-कर्म, सर्वमपि-समस्तमपि, शुभाशुभं। प्रतिषिद्धं निराकृतं। तर्हि किमाहतम्? ज्ञानमेव, भेदबोध एव। शिवहेतुः शिवस्य-मोक्षस्य, हेतुः-कारणं, विहितं-कथितं। परमागमकोविदैः ॥१०३॥

अर्थ—परमागम में प्रवीण पुरुषों ने ऐसा कथन किया है कि शुभ-अशुभ (तफावतरहित) अभेदरूप से कर्मबंधन का कारण है, इसलिये सर्व ही शुभाशुभ कर्म प्रतिषिद्ध है। तब किसका आदर करना? 'भेदज्ञान का' क्योंकि वही मोक्ष का कारण है।

श्री पांडे राजमलजी कृत 'समयसार-कलश-टीका' में कहा है:—'जितनी शुभरूप व्रत-संयम-तप-शील-उपवास इत्यादि क्रिया उसको एक-सी दृष्टिकर बंध का कारण कहते हैं। भावार्थ इसप्रकार है—जैसे जीव को अशुभक्रिया करते हुए बंध होता है, वैसे ही-शुभक्रिया करते हुए जीव को बंध होता है, बंधन में तो विशेष कुछ नहीं। इस कारण कर्म शुभरूप अथवा अशुभरूप; उनमें से शुभक्रिया को मोक्षमार्ग जानकर कोई मिथ्यादृष्टि जीव पक्ष करता है सो निषेध किया; ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग कोई कर्म नहीं। ज्ञान अर्थात् 'निश्चय से शुद्धस्वरूप अनुभव' मोक्षमार्ग है, अनादि परंपरा से ऐसा उपदेश है।'

यहाँ 'ज्ञान' को मोक्षमार्ग कहा, उसका अर्थ 'परसन्मुख ज्ञान' नहीं, किंतु 'शुद्धस्वरूप

का अनुभवरूप ज्ञान' है, जिसके साथ निश्चय से 'श्रद्धा और चारित्र' नियम से होते हैं। सम्यग्दृष्टि के शुभभाव का—जिसको कि 'व्यवहार मोक्षमार्ग' कहा जाता है—यहाँ पर निषेध है। इसका स्पष्टीकरण कलश १०३ में ऊपर किया है। 'सम्यग्दृष्टि को शुभभाव (व्रत, संयम, तप, शील, उपवास आदि) से संवर-निर्जरा नहीं होती है' ऐसा सिद्धांत होने पर भी जो उसे नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और 'शुभभाव बंध का कारण है, मोक्षमार्ग नहीं' ऐसा जो मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि शुभभाव को श्रद्धा में उपादेय मानता है, जबकि सम्यग्दृष्टि 'हेय' किंतु अशुभभाव से बचने के लिये ऊपर की भूमिका में वर्तमान में जाने के लिये अशक्त है, इसलिये हेयबुद्धि से शुभभाव करने का उसे विकल्प आता है।

अब भावलिंगी मुनि को लक्ष्य में रखकर कहते हैं कि जबकि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया गया, तब फिर मुनि किसके आश्रय से या किस आलंबन द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे? ऐसी आशंका का आचार्यदेव निम्न कलश में समाधान करते हैं:—

कलश १०४

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरताः॥१०४॥

अर्थ—शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म-ऐसे समस्त कर्मों का निषेध कर देने पर निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है, तब ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; वे उस ज्ञान में लीन होते हुए परम अमृत का स्वयं अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं।

श्री परमाध्यात्मतरंगिणी, पृष्ठ ७० में कहा है:—'कर्मरोधादि के समय योगियों को भेदबोध (भेदविज्ञान) ही शरण है।' [समयसार कलश १०३-१०४ की तरह श्री नियमसार गाथा ४१ में कलश ५८-५९ हैं।]

उपर्युक्त कथन को दृढ़ करने के लिये भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं गाथा १५१ में कहते हैं। वह गाथा निम्न प्रकार है:—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवलीमुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणियो पावति णिव्वाणं॥१५१॥

अर्थ—निश्चय से जो परमार्थ (परम पदार्थ) है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है; उस स्वभाव में स्थित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस स्वभाव में रहना ही 'मोक्षमार्ग' है और निर्वाण उसका पक्ष है। इसकी टीका में कहा है कि—

'ज्ञानं मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोर बन्धहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः।' —ज्ञान मोक्ष का कारण है, ज्ञान को शुभ-अशुभ कर्मों का अबंधहेतुपना होने से उसमें मोक्ष का कारणपना सिद्ध है।

'व्यवहार मोक्षमार्ग' विभाव पर्याय है, अतः उसके कारण से घाति-अशुभ और अघाति-शुभ दोनों का बंध होता है। 'निश्चय मोक्षमार्ग' से कर्म का एक रजकण भी नहीं बँधाता। इसलिये 'दो मोक्षमार्ग नहीं हैं, वह एक ही निश्चय मोक्षमार्ग है।' ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं।

कलश १०५

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिन इति।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हिविहितम्॥१०५॥

अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ—परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह बन्ध का हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव बंधस्वरूप है। इसलिये आगम में ज्ञानस्वरूप होने का (-ज्ञानस्वरूप परिणत होने का) अर्थात् अनुभूति करने का ही विधान है॥१०५॥

'आभाति' का अर्थ-प्रत्ययरूप से स्वरूप का आस्वादक कहा है। 'अयं शिवस्य हेतुः' का अर्थ—यही मोक्ष का मार्ग है। 'अन्यत् बन्धस्य हेतुः' का अर्थ-शुद्धस्वरूप के अनुभव के बिना जो कुछ है शुभ क्रियारूप-अशुभक्रियारूप अनेक प्रकार वह सब बंध का मार्ग है। [देखो, कलश टीका १०५, पृष्ठ ८७]

इस कलश में भी 'दो मोक्षमार्ग नहीं हैं' ऐसा कहा है। 'निश्चय मोक्षमार्ग' के अतिरिक्त अन्य जो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है, वह स्वयमेव बंध स्वरूप है, बंध का कारण है। व्यवहार मोक्षमार्ग तो मात्र बहिरंग सहकारी कारणरूप निमित्तमात्र है, यह बात हम आगे कहेंगे।

इस विषय के आत्मकल्याण के लिये बड़ा उपयोगी होने से आचार्यदेव ने मूल गाथा १५६ कही है। वह यह है:—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवंट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥१५६॥

इसका स्पष्टीकरण करते हुए तथा पूर्व में जो कुछ कहा उसको विशेष दृढ़ करने के लिये कलश नं० १०६, १०७ कहते हैं।

कलश १०६

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥१०६॥

अर्थ—जो ज्ञानस्वभावकरि वर्तना—ज्ञान का होना है, सो ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि ज्ञान के ही एक आत्मद्रव्य का स्वभावपना है॥१०६॥

श्री परमाध्यात्मतरंगिणी में इस कलश का अर्थ निम्नप्रकार है—मोक्षहेतु एक है, अन्य नहीं, अर्थात् दो मोक्षमार्ग नहीं, एक ही है। संस्कृत में कहा है—'तदेव-निश्चय चारित्रमेव मान्यत् मोक्षहेतुः-मोक्षकारणं।' निश्चयचारित्र ही मोक्ष का कारण है, अन्य नहीं है। 'व्यवहारचारित्र मोक्ष का कारण नहीं है' ऐसा यहाँ कहा, इतना ही नहीं 'व्यवहारचारित्र मोक्ष का कारण है' ऐसा अरिहंत मत के विरुद्ध अन्यों का अभिमत है, ऐसा भी कहा। कलश १०७ की भूमिका में परमाध्यात्म तरंगिणी में कहा है कि 'क्रियाकांड मोक्ष का कारण होता है' यह अभिमत अन्यधर्मी का है, अर्थात् वीतरागदेव का यह अभिमत नहीं है। संस्कृत में कहा है:—

'अथान्याभिमतक्रियाकांडस्य वृत्तत्वंनिरुषद्धि।'

कलश १०७

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कम तत्॥१०७॥

अर्थ—जो कर्म स्वभावकरि वर्तना है, सो ज्ञान का होना नाहीं, सो कर्म का वर्तना मोक्ष

का कारण नाहीं, क्योंकि कर्म के अन्य द्रव्य का स्वभावपना है ॥१०७॥

श्री परमाध्यात्म तरंगिणी में इसका अर्थ उपर्युक्त है। संस्कृत में कहा है:—'कर्मस्वभावेन-व्रत तपः प्रभृतिकर्म क्रियाकाण्डं वृत्तं-चारित्र ज्ञानस्य-बोधस्य, भवनं-प्रवर्त्तनं अनुचरणं न भवेत् ज्ञानभवनस्याभवनात्।' - व्रत, तप वगैरः क्रियाकांड कर्म अपने स्वभाव से 'चारित्र' नहीं होता। वह बोध का प्रवर्तन-अनुचरण भी नहीं होता। शुभाशुभ कर्म से ज्ञान का भवन नहीं होता। किस कारण से ? द्रव्यांतर का स्वभाव होने से। कर्म आत्मद्रव्य से अन्य द्रव्य (पुद्गलद्रव्य) का स्वभाव-स्वरूप है, इसलिये क्रियाकांड कर्म-आचरण मोक्ष का कारण नहीं होता है।

दान, परजीवों की दया, व्रत, तपादि सब क्रियाकांड, अर्थात् 'व्यवहार मोक्षमार्ग' मोक्ष का सच्चा कारण नहीं है, किंतु वह बंध का कारण है, ऐसा स्पष्ट वचन श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यहाँ पर शिष्यों की श्रद्धा दृढ़ बनाने के लिये कहा है, क्योंकि दर्शन धर्म का मूल है। सच्ची श्रद्धा हुए बिना चारित्र भी सच्चा नहीं होता है।

'क्रियाकांड मोक्ष का कारण क्यों नहीं है', ऐसा यहाँ पर (कलश १०८ में) बतलाते हैं—

कलश १०८

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बन्धत्वात् स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अर्थ—तीन हेतुओं से क्रियाकांड का निषेध किया जाता है:—

(१) मोक्ष का कारण स्वात्मध्यानादि उसका तिरोधान-अपवारण होने से। क्रियाकांड-परिणत को ध्यान का अनवकाश होता है।

(२) स्वतः ही कर्मबंधस्वभावरूप होने से।

(३) मोक्ष का कारण शुद्धध्यानादि है। उसको तिरोभाव करने का ही जिसका शील अर्थात् स्वभाव है, ऐसे शुभकर्मकारक परिणाम का आविर्भाव होने से। (परमाध्यात्मतरंगिणी, पृष्ठ ७१-७२)। यहाँ पर आचार्यदेव ने उपर्युक्त तीनों कारणों से 'दो मोक्षमार्ग नहीं है किंतु शुद्धध्यानादि एक ही मोक्षमार्ग है' यह स्थापित किया है। (क्रमशः)

स्वानुभव ज्ञान का वर्णन

सम्यग्दृष्टि की निर्विकल्प स्वानुभूति का वर्णन, उसकी आत्मप्रतीति की अखंडता, उसके स्वरूपचिंतन के प्रकार उस स्वरूपचिंतन में उठती हुयीं आनंद-तरंगें वगैरह का वर्णन 'आत्मधर्म' के अंतिम दो अंकों में आपने पढ़ा; तथा धर्मात्मा को अनुसरण करनेवाले मुमुक्षु को भी स्वानुभव की ओर झुकती विचारधारा कैसे होती है, उसका प्रयत्न कैसा होता है, वह भी देखा। अब यहाँ साक्षात् स्वानुभव समय के ज्ञान का वर्णन है। स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान क्या कार्य करते हैं और उनकी कितनी शक्ति है, यह इस प्रवचन में पूज्य स्वामीजी ने समझाया है।

जिनागम में आत्मा का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा जानकर स्वयं के परिणाम को उसमें मग्न करके धर्मी जीव मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव करता है। सामान्यरूप से मति-श्रुतज्ञान को 'परोक्ष' कहा है, तो भी स्वानुभव के समय में उसमें अंशरूप से अतीन्द्रियपन है, उस अपेक्षा से 'प्रत्यक्ष' भी है।

प्रत्यक्ष-परोक्ष की सामान्य व्याख्या में, आत्मा को जाने, वह 'प्रत्यक्ष', पर को जाने, वह 'परोक्ष' ऐसी व्याख्या नहीं है। क्योंकि मति-श्रुतज्ञान आत्मा को जानते हैं तो भी उनको 'परोक्ष' कहा है, और अवधि-मन:पर्ययज्ञान पर को जानते हैं तो भी उनको 'प्रत्यक्ष' कहा है। जो ज्ञान स्पष्ट हो और सीधा आत्मा से हो, उस ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं; और जो स्पष्ट हो, जिसमें इन्द्रियादि पर का कुछ अवलंबन हो, उसको 'परोक्ष' कहते हैं। अब मति-श्रुतज्ञान स्व-सन्मुख होकर जब स्वानुभव में वर्तते हैं, तब उसमें से इन्द्रिय-मन का जितना अवलंबन छूटा है, उतना तो प्रत्यक्षपना है, उसमें जो स्वानुभव हुआ, वह अकेला आत्मा से ही हुआ है, दूसरे किसी का उसमें अवलंबन नहीं, और वह स्वानुभव स्पष्ट है, इसलिये वह 'प्रत्यक्ष' है। यह प्रत्यक्षरूप अध्यात्मदृष्टिवाले को समझ में आये वैसा है। अहा, मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन वगैरह को जाने! ....भाई, जानने का स्वभाव तो आत्मा का है न? आत्मा स्वयं अपने को मन और इन्द्रिय बिना ही जानता है। प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के २० अर्थ

करते हुये आचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि आत्मा अकेले अनुमान द्वारा अथवा अकेले इन्द्रिय-मन द्वारा जाना नहीं जाता। इन्द्रियजन्य मति-श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है, वह पर को जानने की अपेक्षा से, स्व को जानने में तो वह ज्ञान इन्द्रियातीत स्वानुभव 'प्रत्यक्ष' है। यह स्वानुभव-प्रत्यक्षपना अध्यात्मशैली में है, अर्थात् आगम की शैली में प्रत्यक्ष-परोक्ष के जो भेद आये, उसमें उसका कथन नहीं है। समयसार में कहा है कि मैं मेरे समस्त निज वैभव से शुद्धात्मा दिखाता हूँ उसे स्वानुभवप्रत्यक्ष से प्रमाण करना। अब वहाँ श्रोता तो मति-श्रुतज्ञानवाले ही हैं और उनके ही मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव-प्रत्यक्ष करने का कहा है। यदि स्वानुभव में मति-श्रुत 'प्रत्यक्ष' न हों, तो ऐसा क्यों कहें ?

धर्मात्माओं ने ऐसा स्वानुभव करने के पहिले आगम द्वारा तथा अनुमान वगैरह द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप निश्चित किया है। बाद में उसमें परिणाम लीन करके स्वानुभव करते हैं।

आगम में अरिहंत के आत्मा का उदाहरण देकर आत्मा का शुद्ध स्वभाव दिखाया है। अरिहंत का आत्मा-द्रव्य से-गुण से और पर्याय से जैसा शुद्ध है, वैसा ही यह आत्मा का स्वभाव है, अरिहंत-जैसा सर्वज्ञस्वभाव आत्मा में भरा है; अरिहंत के आत्मा में शुभराग वगैरह विकार नहीं, वैसे शुभराग इस आत्मा का भी स्वभाव नहीं। आगम में शुभराग को आत्मा का स्वभाव नहीं कहा, लेकिन 'परभाव' कहा है, उसको 'अनात्मा' और 'आस्रव' कहा है। ऐसे अनेक प्रकार से आगम के ज्ञान से आत्मस्वरूप का निर्णय करना चाहिये। अनुमान के विचार से भी वस्तुस्वरूप निश्चित करे। जैसे कि—मैं आत्मा हूँ... मेरे में ज्ञान है।

जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है, जैसे कि सिद्धभगवान।

जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं, जैसे कि अचेतन शरीर।

लेकिन, जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ आत्मा भी नहीं और जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी है।

इसप्रकार आत्मा की और ज्ञान की परस्पर व्याप्ति है, अर्थात् एक हो, वहाँ दूसरा हो ही, और एक न हो, वहाँ दूसरा भी न हो, ऐसे परस्पर अविनाभाव को 'समव्याप्ति' कहा जाता है। 'शरीर हो, वहीं आत्मा हो' ऐसा सच्चा अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धभगवान को शरीर न होने पर भी आत्मा है, और मृत कलेवर में शरीर होने पर भी आत्मा नहीं।

शरीर की और जीव की व्याप्ति नहीं। शरीर बिना आत्मा हो, लेकिन ज्ञान बिना आत्मा कभी नहीं होता। इसलिये ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, लेकिन शरीर तो आत्मा से भिन्न है। इस ही प्रकार शरीर की तरह 'राग-द्वेष' बिना भी आत्मा होता है, इसलिये राग-द्वेष भी यथार्थ में आत्मा का स्वरूप नहीं।—ऐसे अनेक प्रकार से युक्ति से विचारकर आत्मा का स्वरूप निश्चित करना, उसको 'अनुमान' कहा जाता है।

मैं आत्मा हूँ; क्योंकि मेरे में ज्ञान है और मैं ज्ञान से जानता हूँ।

शरीर आत्मा नहीं; क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं, वह कुछ जानता नहीं।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, क्योंकि ज्ञान बिना आत्मा कभी नहीं होता, तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं भी ज्ञान नहीं होता।

शुद्धनय से मैं शुद्ध सिद्ध-समान हूँ; अशुद्धनय से मेरे में अशुद्धता भी है। शुद्धनय का आश्रय करके शुद्धात्मा का अनुभव करने से पर्याय में से अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है। इसप्रकार अनुमान और नय-प्रमाण वगैरह के विचार तत्त्वनिर्णय में सहायक होते हैं; लेकिन अकेले उस विचार से ही कुछ स्वानुभव नहीं होता। वस्तु स्वरूप निश्चित करके फिर जब स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करे, तब ही स्वानुभव होता है और उस स्वानुभव के समय नय-प्रमाण वगैरह के विचार नहीं होते। नय-प्रमाण आदि के विचार तो 'परोक्ष ज्ञान' है, और स्वानुभव तो कथंचित् प्रत्यक्ष है। पहिले अनुमान आदि परोक्ष ज्ञान से जो स्वरूप जाना और विचार में लिया, उसमें परिणाम एकाग्र होने से वह स्वानुभव-प्रत्यक्ष होता है। इस स्वानुभव में पहिले की अपेक्षा दूसरा स्वरूप जाना—ऐसा नहीं, अर्थात् ज्ञानी को स्वानुभव में जानने की अपेक्षा से विशेषता नहीं, किंतु परिणाम की मग्नता है—यह विशेषता है।

आत्मा के अनुभव का स्मरण करके फिर उसमें परिणाम लगाता है।—लेकिन स्मरण किसको हो ? पहिले एक बार जिसने अनुभव द्वारा स्वरूप को जाना हो, उसकी धारणा स्थिर रखी हो, वह दुबारा उसका स्मरण करे। पहिले आत्मा का अनुभव हुआ, तब ऐसा आनंद था... ऐसी शांति थी... ऐसा ज्ञान था... ऐसा वैराग्य था... ऐसी एकाग्रता थी... ऐसा प्रयत्न था... उसप्रकार उसके स्मरण द्वारा चित्त को एकाग्र करके धर्मी जीव फिर से उसमें अपने परिणाम को लगाता है। स्वानुभव के समय कुछ वैसे स्मरण वगैरह के विचार नहीं होते, लेकिन पहिले वैसे विचारों द्वारा मन को एकाग्र करता है, अर्थात् उसप्रकार के स्मृति-अनुमान-आगम द्वारा

ज्ञानपूर्वक (फिर वह विचार छूटकर) स्वानुभव होता है। विचार के समय जो मति-श्रुतज्ञान थे, वे ही मति-श्रुतज्ञान विकल्पों को छोड़कर स्वानुभव में आये, अर्थात् स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान है, ऐसा यहाँ बतलाया। मति-श्रुतज्ञान ने आत्मा का जो स्वरूप जाना, उसमें ही वह मग्न होता है। उसमें जानने की अपेक्षा अंतर (फर्क) नहीं, लेकिन परिणाम की मग्नता की अपेक्षा अंतर है।

मति-श्रुतज्ञान जब अंतर में उपयोग रखकर स्वानुभव करते हैं, तब निर्विकल्पदशा में कोई अपूर्व आनंद अनुभव में आता है। जानने की अपेक्षा भले ही वहाँ विशेषता न हो, लेकिन आनंद के अनुभव आदि की अपेक्षा से उसमें विशेषता है। उस संबंधी स्पष्टीकरण इसी ही अंक के इसके बाद के लेख में पढ़ेंगे।

सच्चे दानी

प्रेषक - महेन्द्र जैन 'प्रेम', आगरा, आयु १५ वर्ष

दीवान अमरचन्दजी लाखों दीन दुखियों को गुप्त सहायता पहुँचाया करते थे। एक बार रात को सुना कि एक गरीब ब्राह्मण मर गया है, किंतु उस बेचारी विधवा के घर में कल को भी खाने को नहीं है। तो एक गाड़ी में गेहूँ भरकर सोचा कि रात को किसी नौकर को क्यों जगाया जाये ? इससे स्वयं गरीब किसान का भेष बनाकर गाड़ी हाँकते हुए चले। वहाँ से रात को राजा घोड़े पर बैठे आ रहे थे। गाड़ी की आवाज सुनकर राजा ने कहा—'कौन ?' ये चुपचाप रहे तो राजा ने कहा—'ये कोई चोर है, तभी तो बोलता नहीं।' सिपाही से कहा—'पकड़ लाओ इसे मेरे पास।' दीवान साहब चुपचाप राजा के सामने पहुँचे, तब राजा ने उजाला करके देखा तो दीवान साहब। राजा ने पूछा—दीवान साहब यह क्या तमाशा है ? तब दीवान साहब ने सब हाल बताया। राजा ने गद्‌गद् हो कहा—

तुमसे दाता देवगण, करते जहाँ निवास।
उसी देश का रहेगा, अमर पुण्य इतिहास॥

(सन्मति संदेश से)

तत्त्व-चर्चा

[४]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं का प्रिय विभाग। पूज्य स्वामीजी के पास हुये प्रश्नोत्तरों में से तथा शास्त्रों में से यह विभाग तैयार करने में आता है। अब से इस विभाग में नियमितरूप से दस प्रश्न—दस उत्तर देने में आयेंगे।

(४१) प्रश्न:—असंख्य प्रकार के परभाव—उन सबसे बचने को क्या करना? एक परभाव से बचते हैं तो दूसरा आ जाता है, तो क्या करना?

उत्तर—स्वभाव में प्रवेश करते ही सभी परभाव एक साथ छूट जाते हैं। यह आत्मा ऐसा चैतन्य तेज का पुंज है कि इसका एक स्फरणमात्र ही समस्त परभावों के इन्द्रजाल को (विकल्प-तरंगों को) उसी समय भगा देता है। स्वभाव के दरबार में परभाव का प्रवेश नहीं। स्वभाव में आये बिना परभाव के लक्ष्य से परभावों से बच नहीं सकते, अर्थातृ एक साथ समस्त परभावों से बचने का उपाय यह है कि वहाँ से उपयोग को वापिस मोड़कर स्वभाव में उपयोग को लगाना।

(४२) प्रश्न—सच्चा मोक्षमार्ग कब शुरु होता है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन हो और स्वभाव की बानगी जागे, तब ही सच्चा मोक्षमार्ग; उसके बिना मोक्षमार्ग मिथ्या, अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं। अंतर्दृष्टि बिना अज्ञानी शुभराग करे और वह व्यवहार रत्नत्रयादि के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान ले, तो वह कोई मोक्षमार्ग नहीं, वह तो भ्रम है। अरे! सम्यग्दर्शन और स्वानुभव बिना अकेले शुभराग को मोक्षमार्ग मानना, वह तो वीतराग जैन धर्म की विराधना है। जिन भगवान ने वैसा मोक्षमार्ग नहीं कहा। जिन भगवान ने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है—कि जो स्वानुभव पूर्वक ही होता है। उसकी शुरुआत चौथे गुणस्थान से होती है।

(४३) प्रश्न—मोक्ष का राजमार्ग कैसा है?

उत्तर—जैसे राजमार्ग की सीधी सड़क में बीच में कांटे-कंकड़ नहीं होते, वैसे ही मोक्ष का यह सीधा-स्पष्ट राजमार्ग स्वानुभवरूप है, उसमें बीच में राग की रुचिरूप कांटे-कंकड़

नहीं। (मिथ्यात्वादि शल्य अथवा रागरूप कंकड़ नहीं) संतों ने शुद्ध परिणतिरूप राजमार्ग से मोक्ष को सिद्ध किया है, और वह ही मार्ग जगत् को दिखाया है।

(४४) प्रश्न—यह राजमार्ग है, तो दूसरा पगडंडी मार्ग होगा न ?

उत्तर—पगडंडी मार्ग वह कुछ राजमार्ग से विरुद्ध तो नहीं ही होता। राजमार्ग पूर्व की ओर जाता हो और पगडंडी मार्ग पश्चिम में जाये, ऐसा तो नहीं बनता। पगडंडी मार्ग की भी दिशा तो राजमार्ग के ओर की ही होती है। वैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपरांत शुद्धोपयोगी चारित्रदशा तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है; और वैसी चारित्रदशा बिना जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से उसको 'पगडंडी मार्ग' कहा जाता है, वह एकाध-दो भव में मोक्षमार्ग पूरा करके मोक्ष को सिद्ध करेगा। 'पूर्ण मोक्षमार्ग' अथवा 'अधूरा मोक्षमार्ग'—इन दोनों की दिशा तो स्वभाव की ओर की है, राग की ओर तो एक की भी दिशा नहीं। रागादि भाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत हैं। अत: बंधमार्ग है, उस बंधमार्ग की पगडंडी द्वारा कुछ मोक्ष में नहीं पहुँचा जाता।

(४५) प्रश्न—विग्रहगति क्या ? विग्रहगति में कौन सा उपयोग होता है ?

उत्तर—मृत्यु होने के बाद एक गति में से दूसरी गति में शरीर धारण करने के लिये जीव का गमन हो, उसको 'विग्रहगति' कहते हैं। विग्रह अर्थात् शरीर, उसको ग्रहण करने के लिये जो गति, वह 'विग्रहगति' है। विग्रहगति का ज्यादा से-ज्यादा समय तीन समय का है। विग्रहगति के समय ज्ञान का अथवा दर्शन का, एक का भी उपयोग नहीं होता, वहाँ मात्र लब्धिरूप होता है।

(४६) प्रश्न—विग्रहगति के समय रास्ते में कौन-कौन गुणस्थान और कौन-कौन ज्ञान संभव हैं ?

उत्तर—विग्रहगति के समय रास्ते में चौथा, दूसरा अथवा पहिला गुणस्थान होता है; (संभवित होता है)। तीसरे गुणस्थान में किसी जीव का मरण नहीं होता, इसलिये रास्ते में वह गुणस्थान नहीं होता। विग्रहगति में अज्ञानी को कुमति-कुश्रुत यह दो और ज्ञानी को सम्यक्-मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान संभव होते हैं; लेकिन वह लब्धिरूप होते हैं, उपयोगरूप नहीं होते।

(४७) प्रश्न—द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं, तो विकार का कर्ता कौन ?

उत्तर—जो क्षणिक पर्याय विकारी होती है, वह पर्यायधर्म ही विकार का कर्ता है। वह पर्याय धर्म क्षणिक होने से दूर हो सकता है। द्रव्यधर्म को अर्थात् द्रव्यस्वभाव को देखते हुए आत्मा में विकार का कर्तृत्व नहीं। उस स्वभाव की ओर झुकी हुयी पर्याय में से भी विकार का कर्तृत्व छूट गया है।

(४८) प्रश्न—विकार 'कर्म के लक्ष्य' से होता है, ऐसा बहुत बार कहा जाता है, परंतु सूक्ष्मकर्म तो सामान्य जीवों को कुछ दिखता नहीं, तो उसके लक्ष्य से विकार होने का क्यों कहा ?

उत्तर—स्वभाव के लक्ष्य से विकार नहीं होता—ऐसा समझाने के लिये यह बात कही है। उसमें 'कर्म के लक्ष्य से' इसका 'कर्म के निमित्त से' ऐसा अर्थ समझना। स्वसन्मुख उपयोग से विकार नहीं होता, विकार बाहर के ही आश्रय से होता है, इसलिये विकार कर्म के लक्ष्य से कहा; क्योंकि दूसरी बाह्य वस्तु तो विकार के समय निमित्त हो अथवा न हो, लेकिन 'कर्म' तो सदा नियम से निमित्तरूप होता ही है। भले अज्ञानी को 'कर्म' विचार में न आये, लेकिन विकार में उसको निमित्तरूप से वह होता ही है। वह ऐसा भी प्रसिद्ध करता है कि विकार स्वभावरूप नहीं, विभावरूप है। 'कषाय जीव का स्वभाव नहीं'—यह बात षट्खण्डागम, पुस्तक पाँच, पृष्ठ २२३ में सरस युक्ति से समझायी है।

(४९) प्रश्न—एक समय की पर्याय का दूसरे समय व्यय हो जाता है—'व्यय होना' इससे क्या मतलब ?

उत्तर—पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका अस्तित्व एक समय ही रहता है, बाद के समय में उसका अस्तित्व नहीं रहता, इसी का नाम 'व्यय' है। द्रव्य त्रिकाल है, पर्याय एकसमय मात्र है, अर्थात् द्रव्य से देखने पर वस्तु नित्य दिखती है और पर्याय से देखने पर वस्तु अनित्य दिखती है। इस प्रकार वस्तु अनेकांतस्वरूप है।

(५०) प्रश्न—सम्यग्दर्शन को सिद्धि का मूल क्यों कहा ? चारित्र को क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—चारित्र की तो अपार महिमा है, वह तो मोक्ष का साक्षात् कारण है। वह दशा तो विशेष वीतरागी और महान आनंदरूप है। लेकिन, जिसको सम्यग्दर्शन हो, उसी को ऐसी चारित्रदशा प्रगट होती है। पहिले पूर्ण आत्मस्वभाव का स्वीकार सम्यग्दर्शन के द्वारा होता है; सम्यग्दर्शन द्वारा आत्मस्वभाव को स्वीकार करने के बाद ही उसमें तल्लीनतारूप चारित्रदशा

होती है; इसलिये सम्यग्दर्शन को सिद्धि का मूल कहा है। 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र साक्षात् धर्म है, लेकिन साथ में 'दंसण मूलो धम्मो' धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है—यह भी नहीं भूलना चाहिये। ये दोनों वचन कुन्दकुन्दस्वामी के ही हैं। मूल में सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ चारित्र की शाखा नहीं फूटती और मोक्ष फल पकते नहीं, इसलिये सम्यग्दर्शन मोक्ष का मूल है। और सम्यग्दर्शन के बाद जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करे तब ही, मुनिपन निर्ग्रंथता और मोक्षदशा प्रगट होती है – इसलिये चारित्र साक्षात् धर्म है। इसप्रकार सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शन दोनों की महिमा समझकर भक्तिपूर्वक उनकी आराधना का प्रयत्न करना।

(इस अंक की तत्त्वचर्चा पूर्ण) जयजिनेन्द्र

आध्यात्मिक पद

[रचयिता : कवि श्री जगतराम, राग मल्हार]

प्रभु विन कौन हमारो सहाई।
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई॥ प्रभु० ॥१॥
भूलि हमारी ही हमको यह भई महा दुखदाई।
मिथ्यामति नागिन संग सेयो, तुमरी सुधि विसराई॥ प्रभु० ॥२॥
उन डासियो विष जोर भयो तब मोह लहरि चढ़ि आई॥
भक्ति जड़ी ताके हरिवे कौ, गुरु गानउ बताई॥ प्रभु० ॥३॥
यातै चरन सरन आये हैं मन परतीति उपाई।
अब 'जगराम' सहाय किये ही, साहिब सेवकताई॥ प्रभु० ॥४॥

पुण्य से ही निर्जरा होती अगर तो ?

पुण्य से ही निर्जरा होती अगर तो,
हो गया होता अभी तक मोक्ष कब का।
पुण्य से संवर अगर होता तनिक भी,
तो भ्रमण का कष्ट फिर मिलता न भव का॥
इस तत्त्व के विज्ञान को तूने न जाना,
इस आत्मा को भी नहिं कभी पहचान पाया।
रुचि राग में, कर्तृत्व में अरु लोकरंजन में करी,
पुण्य-पापरहित सुदृष्टिमय स्वतत्त्व-श्रद्धा, नहिं करी॥
पुण्य हो या पाप हो ये आस्रव हैं,
शुभराग भी तो बंध हैं संसार ही के।
इन्हीं में कर्तृत्वं बुद्धि बनी रही तो,
शुभ अशुभ दुख द्वंद्व हैं भव भार ही के॥
नहीं है सम्यक्त्व जब त व्यर्थ हैं सब,
पाठ पूजन जप व्रतादिक ध्यान मिथ्या।
आत्मा ही यदि नहीं पहचान की तो,
तप कुतप है ज्ञान भी है ज्ञान मिथ्या॥
इसलिये सम्यक्त्व धारण कर अरे जिय,
भिन्न निज चैतन्य, पर से जान ले रे।
आत्मा परमात्मा स्वयमेव होगी,
भेदज्ञान अपूर्व सुखमय मान ले रे॥

—राजमल पवैया, भोपाल

शुद्ध जीव और अजीव का स्पष्ट भेद विज्ञान

समयसार कलश टीका का प्रवचन

राजकोट शहर में जिनेन्द्र भगवंतों की मंगल प्रतिष्ठा करके तथा एक मास तक कलश टीका के प्रवचनों में अध्यात्मरस की धारा बहाकर बैशाख सुदी १३ के दिन स्वामीजी सोनगढ़ में पधारे, सोनगढ़ की समस्त जनता ने भारी उत्साह से स्वागत किया; तथा कलश टीका के प्रवचनों के द्वारा आध्यात्मिक रस का प्रवाह बहना शुरु हुआ।

[कलश-टीका प्रवचन—कलश ३७]

शुद्धजीव में जो नहीं, वह अजीव है। वह अजीवतत्त्व वास्तव में जीव के स्वभाव से भिन्न है, अर्थात् शुद्ध जीव, वह ही वास्तव में जीव है। वर्णादिक भाव, या रागादिक भाव, वह वास्तव में जीव से भिन्न, अजीव हैं। शुद्ध चैतन्यद्रव्य से भिन्नरूप से विद्यमान ऐसे अशुद्ध, विभावपरिणाम जीवस्वरूप से भिन्न ही हैं। जड़कर्म या शरीर तो मूर्त और भिन्न है, परंतु अंदर का अरूपी विकारी परिणाम जो चेतन जैसे दिखाई देते हैं और जीव के साथ संबंधवाले हैं, वे विकारी परिणाम भी, शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने पर आत्मा से भिन्न ही हैं। जिसप्रकार जड़ परद्रव्य है, उसीप्रकार यह विकारभाव भी परद्रव्य ही है। स्वद्रव्य तो शुद्ध चैतन्यमय ही है।

अहा, देखो! यह स्वद्रव्य और परद्रव्य का विभाजन! अंतरस्वानुभव द्वारा ऐसी भिन्नता करना, सो धर्म है। शरीर और कर्म तो स्पष्ट जड़ ही हैं और रागादि परिणाम जीव के साथ संबंधित होते हुए भी वह वास्तव में जीव नहीं हैं, जीव के शुद्ध स्वभाव के अनुभव में उनका प्रवेश नहीं है, इसकारण वास्तव में वे अजीव हैं। आत्मा उसको कहते हैं, कि जो शुद्ध आनंदरूप से अनुभव में आये; जिसका अनुभव ज्ञान-आनंद प्रदान करे।—उसी का नाम जीव है।

(१) शुद्ध जीव

(२) शुद्ध अजीव अर्थात् प्रगट-स्पष्ट अजीव (शरीर, कर्मादि)

(३) और जीव संबंधी अजीव (रागादि परिणाम)। शुद्ध जीव का अनुभव करने पर शरीर और कर्म की भाँति रागादि भावकर्म भी भिन्नरूप से ही अनुभव में आते हैं। १४८ प्रकृतियां (जिसमें तीर्थंकरनामकर्म भी आ जाता है) और उसके निमित्तभूत जितने परभाव

अशुभ या शुभ हैं, वह समस्त शुद्ध जीव से भिन्न हैं, अर्थात् अजीव हैं, चेतन जैसे दिखाई देते हैं, तो भी वास्तव में वे चेतन के स्वभावभूत नहीं हैं; शुद्ध चेतनस्वरूप जीव के अनुभव में उनका प्रवेश नहीं, इसकारण शुद्ध जीव से वे भिन्न हैं।

प्रश्न—आपने विभाव-परिणामों को जीवस्वरूप से भिन्न कहा; तो उस भिन्न का अर्थ क्या? उसका भावार्थ हमारी समझ में नहीं आता। भिन्न कहने से वह वस्तुरूप है अथवा अवस्तुरूप है?

उत्तर—शुद्ध चैतन्य से भिन्न कहा है, अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि में वे अवस्तुरूप हैं। शुद्ध चैतन्य के अनुभवशील जीव को स्वभाव में विभाव-परिणाम नहीं दीखते। परभाव का विद्यमानपना था, वह तो पहले ही बताया, परंतु स्वानुभव में तो वह अवस्तु ही है, अविद्यमान ही है! वस्तु के स्वभावभूत जो भाव नहीं, उसके वस्तुरूप से अनुभव करना, वह मिथ्यात्व है।

संतपुरुष अनुभव से कहते हैं कि हम विकार से भिन्न शुद्ध चैतन्य वस्तु का अनुभव करते हैं और तुम भी ऐसी शुद्ध चैतन्यवस्तु का स्वानुभव द्वारा अनुभव करो। रागादि परभावों का वर्जनशील अर्थात् स्वयं विलक्षण आत्मस्वभाव है, यह शुभाशुभभावरूप जो अशुद्ध आचरण है, वह करने योग्य नहीं परंतु वर्जन करने योग्य है, छोड़ने योग्य है; आत्मा का स्वभाव राग का अनुभवशील नहीं परंतु शुद्ध चेतना का अनुभवशील है। रागादि परभावों को तो दुष्ट कहा है, अनिष्ट कहा है और मोक्षमार्ग का घातक कहा है (पृष्ठ ८९) व्यवहारचारित्र के शुभ-परिणाम को भी इसी में गिना है। उपादेयरूप शुद्धभाव है, वही मोक्ष का कारण है। जितनी शुद्धता है, उतना ही मोक्ष का कारण है, और जितना मोक्ष का कारण है, उतना ही उपादेयरूप है। जितनी अशुद्धता है, उतना बंध का कारण है और जितना बंध का कारण है, उतना छोड़ने योग्य है।

परभाव अनिष्ट हैं अर्थात् इष्ट नहीं; धर्मात्मा को वे प्रिय नहीं हैं। धर्मातमा को इष्ट और प्यारा तो अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही है। परभाव जिसको प्रिय है, उसको शुद्ध आत्मस्वभाव प्रिय नहीं है। विकल्प के जाल उठते हैं, वे ज्ञानी को प्रिय नहीं; इष्टरूप नहीं, उसकी इच्छा नहीं। वे विकल्प जाल उठते हैं तो उठो, परंतु अनुभवशील ऐसी शुद्ध आत्मवस्तु में तो कोई विकल्प नहीं है; इसकारण वह स्वद्रव्य नहीं, परंतु परद्रव्य है और परद्रव्य होने से स्ववस्तु के

अनुभव में तो वह अवस्तु ही है। जिसप्रकार चेतन के अनुभव में जड़ का प्रवेश नहीं है, उसीप्रकार परभावों का भी उसमें प्रवेश नहीं है, इसकारण वह भी परमार्थ से परद्रव्य है; जो स्वद्रव्य की शुद्ध अनुभूति में नहीं है, वह समस्त परद्रव्य है। अरे! राग को तो मोक्षमार्ग का घातक कहा है तो वह स्ववस्तु कैसे होगी? अज्ञानी उसको (शुभराग को) मोक्ष का साधन मानता है। परंतु भाई, अशुभ कषायों की तरह शुभ परिणामों का भी मोक्षमार्ग में निरोध है। शुद्ध चैतन्यवस्तु के अनुभवरूप जो मोक्षमार्ग है, वह तो मात्र शुद्धतारूप ही है, वह शुभाशुभरागरूप नहीं है। शुभाशुभराग तो मोक्षमार्ग की क्रिया से विपरीत है। मोक्षमार्ग भला है और शुभशुभ परिणाम दुष्ट हैं, इसलिये वे वर्जनीय हैं।

अहा! छट्ठे-सातवें गुणस्थान में स्वरूप के आनंद में बारंबार झूलते हुये भगवान संत-मुनियों ने स्पष्ट वस्तुस्वरूप अनुभव करके प्रसिद्ध किया है। अहा! मुनिदशा अर्थात् परमेष्ठी पद! मानों चलते-फिरते सिद्ध भगवान!—ऐसे संतों की यह वाणी है, कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलौकिक वस्तुस्वरूप जगत को बताया है, शुद्ध स्वभाव और परभावों की अत्यंत भिन्नता बताकर शुद्धजीव का अनुभव कराया है; और परभावों को तो 'अवस्तु' कहकर अनुभव से बाहर निकाल दिया है; अर्थात् व्यवहार को ही शुद्ध अनुभव के बाहर निकाल दिया है।

यह 'अजीव अधिकार' है; शुद्ध जीव नहीं, वह समस्त अजीव—इसप्रकार जीव-अजीव का स्पष्ट विभाजन किया है। ऐसे शुद्धस्वरूप जीव को अनुभव में एवं प्रतीति में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे सम्यग्दर्शन की दृष्टि में उत्कृष्ट एक परमतत्त्व ही दृष्टिगोचर होता है, कोई विभाव उसमें दिखायी नहीं देते। विभाव अर्थात् व्यवहार परिणाम उत्कृष्ट नहीं हैं, शुद्धदृष्टि में जो परम तत्त्व दिखाता है, वही उत्कृष्ट है। आठ वर्ष की बालिका भी सम्यग्दर्शन में ऐसे उत्कृष्ट तत्त्व को देखती है-अनुभव करती है। ऐसे उत्कृष्ट परमतत्त्व के अनुभव में ही मोक्षमार्ग का समावेश होता है।

आत्मा के सहज स्वभाव में 'विकार' का कर्तृत्व मानकर

अज्ञानी जबरदस्ती करता है

[हे जीव! ते महान परमात्मा; तेरा 'स्वभाव' बड़ा और तेरी 'भूल' भी बड़ी; तू ही अपनी भूल को समझकर अपने बल के द्वारा उसे तोड़ सकता है। भूल बड़ी किंतु क्षणिक है, उसे मेटनेवाले को अपने असली स्वभाव का भान है।]

आत्मा का नित्यज्ञानानंद स्वभाव गंभीर है, जिसकी गंभीरता का भेद राग के विकल्प से जानना अशक्य है। स्वानुभव से ही यह गंभीर आत्मस्वभाव प्राप्त किया जा सकता है। स्वभाव को भूला हुआ 'अज्ञानी' जबरदस्ती से वह रागादि परभावों का 'कर्ता' होता है। जबरदस्ती से कर्ता होता है—इसका मतलब है कि आत्मा के सहज ज्ञातास्वभाव में तो रागादिक का कर्तृत्व नहीं है, किंतु अनित्य पर्याय में मिथ्यारुचि—अज्ञान के जोर से अज्ञानी शुभाशुभभावों का कर्तृत्व आत्मा में मानता है। आत्मा के सहज स्वभाव में जो बात नहीं है, उसका कर्तृत्व बलजोरी से अज्ञानी पैदा करता है-खड़ा करता है।

अरे जीव! तेरे सहज स्वरूप में क्या रागादि परभाव हैं? नहीं हैं। तेरा सहज स्वभाव तो चैतन्य सूर्य है, उसमें 'रागादि का कर्तृत्व' जरा भी नहीं है। ज्ञान के द्वारा निजस्वरूप का अनुभव करने पर सहज अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है। 'राग मेरा कार्य और मैं ज्ञानमय आत्मा उसका कर्ता' ऐसी खोटी कर्तृत्वबुद्धि द्वारा अज्ञानी आत्मा के सहज आनंद को नष्ट करता है। ऐसी कर्तृत्वबुद्धि से ही आत्मा के ऊपर 'जबरदस्ती' होती है। जो वस्तु आत्मस्वभाव में नहीं है, उसे हठ से उसमें मानना, घुसेड़ना-यह 'जबरदस्ती' है और ऐसा करने से आकुलता ही होती है, यही 'संसार' है।

आत्मा पर से अत्यंत पृथक्, कर्तृत्व की उपाधि से रहित है, किंतु अज्ञानीजन संयोग में एकताबुद्धिवश उसमें जबरदस्ती से पर के कर्तृत्व का आरोप लगाते हैं। अरे, पर से सर्वथा भिन्न, सहजज्ञानस्वभावमय ज्ञान में ज्ञान के सिवा दूसरे किसका कर्तृत्व? ज्ञानकार्य में रागादि विकार का मिश्रणरूप कार्य कहाँ से आ गया? और 'पर का कार्य' उसमें कैसा? भाई! अपनी आत्मा को ऐसी कर्तृत्वबुद्धि से मुक्त कर और उसमें शुद्धज्ञान की भावना कर 'मैं तो मात्र शुद्धज्ञान हूँ, मेरी शुद्धज्ञान में विकार के साथ न तन्मयता है, न पर के साथ संबंध', ऐसे आत्मा

को जहाँ तक जीव नहीं जानता, वहाँ तक अपनी बुद्धि के दोष से विपरीत पुरुषार्थ से विकार के कर्तृत्वरूप परिणमता हुआ भ्रमण करता है; स्वयं ही अपनी आत्मा के ऊपर जबरदस्ती जुल्म करके अपने को दु:खी बना रहा है।

अरे प्रभु.... तू चैतन्यमूर्ति नित्य निरंजन शुद्धात्मा! और वर्तमान क्षणिक दशा में अपने को भूलकर विकार के कर्तृत्व में रुक रहा है,... बड़ी शर्म की बात हे, 'राग' तो विरोधभाव है। 'पराश्रय-व्यवहार-राग चाहिये, निमित्त चाहिये' ऐसी मलिनता में मूर्छित होने में तुझे शर्म नहीं आती? अचेतन मुर्देरूप शुभाशुभ परिणति में तन्मय होकर तू अपने सारे चैतन्यरत्नाकर को ढँक रहा है। निर्मल चेतनाविलासरूप निज परिणति में परिणत होकर उसका कर्ता बन क्योंकि यही स्वभाव की सामर्थ्य है और अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव कर, तेरी आत्मा का स्वभाव तो ऐसा है, उसे भूलकर जबरदस्ती कर तू उसे विकार के कर्तृत्व में रोक रहा हे और दु:ख भोग रहा है। अब उस मिथ्याबुद्धि को छोड़... छोड़! और विकार से भिन्न ज्ञानस्वरूप को देख।

जिसमें जो वस्तु नहीं है, उसमें उसे बलात खड़ा करना, इसका नाम 'जबरदस्ती' बलात्कार है। आत्मवस्तु के स्वभाव में ज्ञान-आनंद का अनुपम माधुर्य है; शुभाशुभ विकार आत्मवस्तु के स्वभाव में नहीं है, किंतु अज्ञान से उसमें उसे मानकर संयोग में एकतारू-बुद्धि द्वारा जबरदस्ती से अज्ञानी 'विकार का कर्तृत्व' खड़ा करता है।

ज्ञानी स्वभाव के बल से समस्त विकार के कर्तृत्व को छोड़ता है! कोई आदमी निर्दोष होवे, कोई उसे कहे 'नहीं, तेरे में कलंक है,' इस तरह जबरदस्ती कलंक लगावे तो वह 'बलात्कार' है। उसीप्रकार चिदानंदस्वभाव शुद्ध है, कलंक रहित है, उसे न मानकर 'उसमें रागादि का कर्तापन है' इसप्रकार मिथ्याबुद्धि से अज्ञानी आत्मा के स्वभाव में विकार के कर्तृत्व का कलंक थोपता है, यह 'जबरदस्ती' है। ऐसा कर वह स्वयं अपने आत्मस्वभाव के ऊपर जुल्म कर रहा है और इससे संसार में रुलता है; दु:खी होता है।

जिसप्रकार भाड़ली में जल न होते हुए भी मृग अज्ञानवश उसे जल मान करके पीने के लिये दौड़ता है, तो यह मृग-तृष्णा कैसे मिटे? उसे कैसे शांति मिले? उसीप्रकार 'विकारी भाव' भाडली के जलवत हैं, उनमें चैतन्य की शांति न होते हुए भी अज्ञानी जीव, मृग की भाँति, अज्ञान से उसमें शांति मानकर उसका (शुभाशुभ विकारी भाव का) कर्ता बनता है, तो विकार के कर्तृत्व में चेतन को शांति कहाँ से मिले?

अरे भाई..!'विकार' में तेरी शांति कैसी ? अपने आत्मा को इसके कर्तृत्व में मत रोक। 'मृग जल' में से यदि जल मिले तो तृषा बुझे, वैसे ही 'विकार' में से यदि तुझे शांति मिले तो तेरी आकुलता मिटे। विकार में से तू शांति चाहता है, किंतु उसमें जरा भी शांति नहीं है, अत: इसके कर्तृत्व में तुझे कभी भी शांति नहीं मिलने की। शांति का धाम तेरा चैतन्यतत्त्व है, इसमें विकार के कर्तृत्व की गंध तक नहीं। ऐसे चैतन्यस्वभाव का सेवन करे तो अपूर्व सम्यक्त्वादिरूप शांति मिले और आकुलता दूर हो।

जहाँ जल नहीं, वहाँ अज्ञानवश मृग दौड़ता है, वैसे ही जिसमें शांति नहीं, ऐसे परभाव में अज्ञानी भ्रम से हित मानता है–भाई! 'विकारी भाव' तो विष है, तेरा 'चैतन्यस्वभाव' अमृत है, उसके बदले इन विकारी भावों का कर्तृत्व स्वभाव में मानकर तू अपने अमृतस्वभाव को विषरूप मानता है, यह बड़ा व्यभिचार है, बलात्कार है। अरे जीव! 'स्वभाव' और 'परभाव' में भेद विज्ञान कर। तू बड़ा परमात्मा, तेरा स्वभाव भी बड़ा और तेरी भूल भी बड़ी; तू ही अपने पुरुषार्थ से अपनी भूल को नष्ट करे, तो वह नष्ट हो। बड़ी भूल को भंग (नष्ट) करके सम्यक् स्वभाव का भान करे, तो तुझे बड़ा लाभ हो। त्रैकालिक अकषायतत्त्व के आलंबन द्वारा भूल तो नष्ट करते ही चैतन्य का अपार अमृत साक्षात् अनुभव में आता है।

(समयसार कलश टीका-प्रवचन)

वह सुंदरतम प्रतिमा!

गोमटेश्वर की वह ५७ फुट ऊँची विशाल प्रतिमा जब बन चुकी तो राजा की ओर से घोषणा हुई कि अब इसमें अधिक मनोज्ञता लाने के लिये जो टांकी से सुघड़ बनाकर जितने पत्थर के टुकड़े निकालेगा, उतने तोल का सोना उसे परितोषिक में दिया जायेगा। कलाकारों ने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर उसे और मनोज्ञ बनाया। फिर घोषणा हुई कि अब दूसरी बार मोती दिये जायेंगे। कलाकारों ने फिर अपनी कला का निखार किया। अब तीसरी बार फिर घोषणा हुई कि अब जो सौन्दर्य का निखार करेगा, उसे उस तोल के हीरे दिये जायेंगे। तब विश्व के सब कलाकारों ने मिलकर कहा—'अब मूर्ति पर टांकी चलाना उसके सौन्दर्य को नष्ट करना होगा। इससे अधिक सुंदर इसे कोई नहीं बना सकता।' (सन्मति संदेश में से)

समय कम है और काम अधिक है

यह महँगा मनुष्य जीवन, अति अल्प आयु, उसमें चैतन्य का अचिंत्य भंडार खोलने का महान कार्य करना है। ऐसे मूल्यवान जीवन का समय अनावश्यक कार्यों में गँवा देना मुमुक्षु के लिये योग्य नहीं है; इसलिये हे जीव! तू जागृत होकर स्वकार्य में सावधान हो! अवसर चला जायेगा तो पछताना ही रह जायेगा।

रात्रि चर्चा में वैराग्यपूर्वक यह बात करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा, एक आदमी को मृत्यु का बुलावा आया कि—शाम को तेरी मृत्यु हो जायेगी, तब तक तुझे कोई सत्कार्य करना हो तो कर ले... वह मूर्ख आदमी मौत से बहुत डर गया; लेकिन एक जगह सुंदर वेश्या का नृत्य देखकर उसे देखने में रुक गया; फिर स्वादिष्ट मीठा भोजन देखकर उसे खाने का लालच न छोड़ सका और थोड़ा समय उसमें लगाया; थोड़ा समय व्यापार-धंधे में और परिवार की देखरेख में लगाया। इतने में शाम हो गई... मौत लेने के लिये आ पहुँची। वह आदमी बोला—थोड़ी देर ठहर जा... मैंने कोई अच्छा काम नहीं किया, इसलिये कोई सत्कार्य करना चाहता हूँ... तब तक हे मृत्यु! तू ठहर जा! लेकिन क्या मृत्यु ठहर सकती थी? उसने तो उसे उठाया और चली गई। उसीप्रकार इस अमूल्य मानव जीवन का संक्षिप्त काल, उसमें चैतन्य की साधना का महान कार्य सँभालना है। अपना कार्य करते हुए मुमुक्षु को दूसरों की चिंता का समय ही कहाँ है? अंतर का अनंत चैतन्य भंडार खोलने का कार्य करना है; इसलिये सतत श्रवण-स्वाध्याय-मनन और मंथन को छोड़कर जगत की छोटी-छोटी बातों में रुकने का अवकाश ही कहाँ है? भाई; उसे दूसरों का देखने का समय ही कहाँ है? जिसप्रकार दृष्टान्त का मूर्ख, आयु का अल्पकाल पाँच इन्द्रियों कें विषय-कषायों में ही गँवाकर अंत में पछताता है, उसीप्रकार इस अमूल्य जीवन में स्व-कार्य छोड़कर पंचेन्द्रिय के विषय-कषायों में ही जो समय गँवाता है, जगत से संतुष्ट होने में और जगत को संतुष्ट करने में ही जो रुका रहता है और आत्महित के कार्य का लेशमात्र उद्यम नहीं करता, उसे यह अमूल्य अवसर चला जाने पर पछतावे का पार नहीं रहता। इसलिये संत पुनः पुनः कहते हैं कि हे जीव! समय कम है और काम अधिक है... अपने स्व-कार्य को सँभाल... यह सुनहर अवसर आया है।

[रात्रि चर्चा से]

शाश्वत महिमा

[रचयिता – श्री युगल, एम.ए., साहित्य-रत्न, कोटा (राज०)]

अरे! ओ... शिखर समेद अचल!
ज्यों ज्यों पथिक ऊर्ध्वगति करता, गलता मान तरल हो।
जाती चिरमूर्छा अनादि की, चाहे चढ़ा गरल हो॥
अरे! ओ!! मानस्तंभ अटल! अरे ओ, शिखर समेद अचल!
निज-स्वभाव-रत पावन-पुरुषों के भावों की गंगा।
अरे! वायु-मंडल में अब भी नहीं तरंगित अमला॥
रे! धो देती मान समल, अरे! ओ, शिखर समेद अचल!
झरते यहाँ अरे! पद पद पर अमृत के झरने।
दृष्टि मात्र में ही पी लेते अंतर्दृष्टि जिन्हें॥
हो न फिर क्यों मानस उज्ज्वल, अरे! ओ, शिखर समेद अचल!
रे अतीत वैभव का देता तू उज्ज्वल आभास।
तूं है शाश्वत पावनता का गौरवमय इतिहास॥
अरे ओ भू-सौंदर्य अटल! अरे! ओ, शिखर समेद अचल!
उन विभूतियों की स्मृति देती निज वैभव दर्शन।
नहीं राग जिसका कर पाता एक पलक स्पर्शन॥
अरे! वह निज निगूढ़ तम घन! अरे! ओ, शिखर समेद अचल!
मिट जाते तेरे दर्शन से, यहाँ सात ही भय।
ज्ञान और श्रद्धा का होता अद्‌भुत अरे! समन्वय॥
यही तो है अंतर्दर्शन! अरे ओ, शिखर समेद अचल!
बरबस झुक जाता है, मस्तक उस वैभव के आगे।
जिसको पाकर चिर-दरिद्र के भाग्य अचानक जागे॥
यही तो तेरा वंदन-फल, अरे! ओ, शिखर समेद अचल!

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के द्वारा पवित्र धर्म प्रभावनामय

विहार समाचार

जसदण—तारीख २८-१-६७ से तारीख २-२-६७। यहाँ नया दिगम्बर जैन मंदिर बना है, वेदी प्रतिष्ठा उत्तम प्रकार बड़े उत्साह सहित हुई। जिन मंदिर में श्री वर्धमान प्रभु की प्रतिमा विराजमान की है, इन्द्रध्वज, जाप्य, नांदी विधान, ६४ ऋद्धि मंडल विधान तथा यागमंडल विधान पूजा रथयात्रा और शांतियज्ञ आदि सब विधि सहित बड़े उमंग सहित श्री जसदण मुमुक्षु मंडल के द्वारा तथा श्री विंछिया मुमुक्षु मंडल के सहयोग से यह उत्सव सम्पन्न हुआ। बम्बई, सोनगढ़, गोंडल, विंछिया, बोटाद, बरवाला, राजकोट, धोराजी आदि बहुत स्थान से मेहमान आये थे, सबमें मुख्य आकर्षण पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा शंका-समाधान थे, जैनेतर समाज भी बड़े प्रेम एवं धर्मजिज्ञासा से लाभ लेते थे, जदसण स्टेट के महाराजा तथा महारानी श्री ने पूज्य स्वामीजी का विशेष लाभ लेने के लिये अपने दोनों राजमहल कचहरी होल आदि का उपयोग करने का अनुरोध किया था, प्रवचन कचहरी होल में होता था, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान और वैराग्यमय उपदेश द्वारा धर्म की दुर्लभता समझायी।

—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

मोटा आंकड़िया (जिला अमरेली-सौराष्ट्र)—तारीख ३-२-६७ से तारीख १० तक का कार्यक्रम है। यहाँ पंडित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ के द्वारा बहुत मनोज्ञ और ज्ञान वैराग्य की अनुपम प्रतिभामय जिनप्रतिमाजी २० वर्ष पूर्व लाकर श्री जमनादास रवाणीजी के घर पर विराजमान की थी, प्रतिमाजी इतने वैराग्य और ध्यान मुद्रा के अतिशय सम्पन्न हैं कि श्री कानजीस्वामी खास वहाँ दर्शन करने जाते थे, अब तो वहाँ बड़ा विशाल जिनमंदिर बन गया है। सात प्रतिमाजी के पंच कल्याणक महोत्सव शुरु हो गया है। प्रतिष्ठाचार्य श्री नाथुलालजी शास्त्री संहिता सूरि इंदौर से पधारे हैं। पूज्य स्वामीजी का प्रवचन हमेशा दो बार तथा रात्रि शंका-समाधान का कार्यक्रम चलता है। यह जिनमंदिर स्थानीय मुमुक्षु स्व० बालुभाई की धर्मपत्नी श्री कसुंबा बहिन के द्वारा बनाया गया है। अजमेर से भजन मंडली आनेवाली है, विशेष

समाचार आगामी अंक में दिया जायेगा। मोटा आंकडीया के पश्चात् बीच में दो दिन राणपुर में पूज्य कानजीस्वामी का धार्मिक कार्यक्रम है।

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महा महोत्सव

हिम्मतनगर-(महावीरनगर)—में तारीख १३-२-६७ से तारीख २१-२-६७ तक है जो सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र जैनधर्म की आदर्श भक्ति, धर्म प्रभावना और धर्म वात्सल्यमय होगा, जिसमें फतेपुर निवासी श्री बाबूभाई तथा समस्त धर्म प्रेमी उत्साही साधर्मी बंधुओं का पवित्र सहयोग होने से यह जिनेन्द्रों की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव अहमदाबाद गुजरात भर के जन भाईयों के लिये पवित्र गौरवमय होगा, प्रतिष्ठाचार्य श्री नाथुलालजी शास्त्री इंदौर से पधारेंगे। —ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

जयपुर-राजस्थान—आचार्यकल्प पंडितप्रवर, जैनधर्म के अनमोल रत्न, स्व० पंडित टोडरमलजी की पवित्र स्मृति में टोडरमलजी स्मारक होल का मंगलमय उद्घान तथा वेदी प्रतिष्ठा महा महोत्सव और धर्म प्रभावना निमित्त पूज्य कानजीस्वामी का आगमन तारीख ६ मार्च से होगा। तारीख १६-३-६७ तक जयपुर में धार्मिक कार्यक्रम है। भावनगर से अहमदाबाद, आबू, मदगंज, कुचामन, लाडनू, सीकर, होकर जयपुर का कार्यक्रम गतांक में छप चुका है। —गुलाबचंद जैन

विद्वद्रत्न पंडित खेमचंदभाई का उदयपुर में शुभागमन

पंडित खेमचंदभाई का जयपुर से दिनांक १-१-६७ रविवार को उदयपुर में १० बजे पदार्पण हुआ। उदयपुर समाज ने उनका भावभरा स्वागत किया। चार दिन तक ८ प्रवचन हुये, आपके अद्वितीय प्रभावशाली एवं ओजस्वी भाषण श्रवण कर समाज आकृष्ट एवं मंत्रमुग्ध हो गई और मुक्त कंठ से भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी कि अब तक कई विद्वान यहाँ आये किंतु तत्त्व प्रतिपादन की ऐसी अपूर्व अद्भुत व रोचक शैली का यह प्रथम सोपान है अध्यात्म के विषय को सरल स्पष्ट संक्षेप में सारगर्भितरूप से हेतु दृष्टांत व न्याय सहित प्रत्येक वाक्य एवं गाथा को टुकड़ों में बोल बनाकर व्याख्या की गई जिससे बाल, युवा, वृद्ध एवं विद्वान आदि सब ही जनमानस को विषय, बराबर हृदयंगम हुआ। व्याख्यान में जैन जैनेतर समाज काफी संख्या में उपस्थित होती थी, कड़ाके की सर्दी होते हुये भी श्रोताजनों की श्रवण की विशेष रुचि

बनी रहती व आग्रह किया जाता था। एकांत निश्चय व व्यवहार लोप करने के प्रश्न पर खुलकर चर्चा हुई। सर्व जैन समूह को भली प्रकार संतोष होकर समाधान हुआ व सोनगढ़ के प्रति अश्रद्धा दूर हुई। यहाँ समाज में नई जागृति हुई, चारों ओर शांति व हर्ष की लहर फैल गई। पंडित साहब को रोकने की प्रार्थना निष्फल रहना समाज ने अपने लिये दुर्भाग्य समझा और उदयपुर में जिन भवन का शिलान्यास समारोह सन्निकट होने से पुनः पधारकर वचनामृत से लाभान्वित करने का भावपूर्ण आग्रह किया। विदाई समारोह में सर्वसमाज उपस्थित थी, कई सज्जनों ने उनके प्रति श्रद्धांजली समर्पित की, क्षेत्र से विदा होते हुए भी भाव से सन्निकट रहने व क्षेत्र से पुनः सन्निकट होने की शुभकामना के साथ पुष्पहार समर्पित किया। खेमचंदभाई ने जो कार्य वर्षों में होता उसको चार दिन में सफल करने की शक्य चेष्टा की इसके लिये उनका उपकार एवं आभार मानते हुये धन्यवाद दिया गया।

अध्यक्ष
उग्रसैन बंडी
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, उदयपुर

॥ श्री महावीराय नमः ॥

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी स्मारक भवन का उद्घाटन, वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव तथा द्विशताब्दि समारोह

दिनांक ६ मार्च से १६ मार्च १९६७ तक

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी महान विद्वान एवं सुधारक थे, उन्होंने अपने अल्प जीवनकाल में ही अनेक उच्चकोटि के 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसे अनुपम ग्रंथों की रचना एवं 'गोम्मटसार' जैसे महान कठिन ग्रंथों की अर्थ संदृष्टि सहित अत्यंत सरल भाषा में टीका तैयार करके धर्म, समाज एवं जिनवाणी माता की अपूर्व सेवा की थी।

यह जयपुर नगरी बहुत सौभाग्यशाली है, जहाँ पर ऐसे-ऐसे अनेकों मोक्षमार्गी महापुरुषों ने जन्म लेकर जिनवाणी की सतत साधना के द्वारा स्व-परकल्याण कर इस नगरी को पवित्र किया। महापुरुष आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने उसी साधना की रक्षा के लिचे अपने आपको इसी भूमि पर बलिदान कर दिया। उनके स्वर्गवास को २०० वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। अत: हम सबका कर्तव्य है कि उनके उपकार की स्मृति को ताजा करने के लिये एवं उनके बताये हुये मार्ग पर प्रवृत्ति करने के लिये उनके बलिदान को द्विशताब्दि समारोह के रूप में सारे भारतवर्ष में विशेष-विशेष आयोजनों के साथ निम्न प्रकार से अखिल भारतीय स्तर पर मनाया जावे।

इस संबंध में श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल जयपुर की मीटिंग में निम्न निर्णय लिये गये हैं। अत: समस्त जैन समाज से निवेदन है कि कार्यक्रमों में पूर्ण उत्साह से भाग लेकर सभी कार्यक्रमों को सफल बनायें।

१- जैनाजैन पत्रों में प्रचार कर द्विशताब्दि समारोह मनाने के लिये समाज में जागृति उत्पन्न की जावे।

२- दिनांक १३ मार्च ६७ को प्रत्येक स्थान पर विशाल रूप से सभाओं का आयोजन करके पंडित टोडरमलजी के व्यक्तित्व एवं गुणों पर विस्तृत प्रकाश डालकर सर्वसाधारण को इस संबंध में अवगत कराया जावे।

३- द्विशताब्दि समारोह के अवसर पर पंडितजी साहब के संबंध में व उनके साहित्य के संबंध में परिचयात्मक लेख व श्रद्धांजलियाँ आदि संग्रह कर उनके प्रकाशन की व्यवस्था की जावे, अत: मार्च में पंडित टोडरमलजी जयंती स्मारिका जयपुर में प्रकाशित की जा रही है।

४- उक्त अवसर पर श्री टोडरमलजी साहब की रचनाओं का एवं अन्य सत् साहित्य का प्रकाशन किया जावे।

५- अपने आत्म कल्याण के हेतु जैन शास्त्रों के अध्ययन व मनन की रुचि जागृत की जावे।

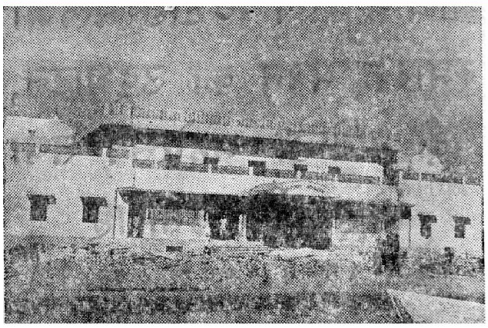

बापूनगर (जयपुर) में नवनिर्मित टोडरमल स्मारक भवन

जयपुर में पंडित टोडरमल द्विशताब्दि समारोह का विशाल आयोजन दिनांक १३ से १६ मार्च तक किया जा रहा है। जयपुर में पंडित टोडरमल स्मारक भवन का निर्माण बापू नगर में हुआ है—उसकी उद्घाटन भी दिनांक १३ मार्च को होगा तथा इसी समय इस स्मारक भवन में श्री सीमंधर भगवान को नवनिर्मित वेदी में प्रतिष्ठापूर्वक स्थापन किया जावेगा तथा पंडित टोडरमलजी की स्वहस्त लिखित प्राचीन ग्रंथों एवं अन्य दर्शनीय अलभ्य जैन साहित्य की प्रदर्शनी का भी आयोजन है।

जयपुर जैन समाज के अति आग्रह के कारण एक सप्ताह पूर्व ही सोनगढ के संत पूज्य कानजीस्वामी संघ सहित टोडरमल स्मारक भवन के उद्घाटन तथा वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव के लिये दिनांक ६ मार्च को जयपुर पधार रहे हैं तथा यहाँ दिनांक १७ मार्च तक विराजेंगे। उनकी छत्रछाया में ही उपरोक्त सभी आयोजन संपन्न होंगे।

इसी अवसर पर पूज्य स्वामीजी द्वारा पंडित टोडरमल स्मारक भवन के उद्घाटन के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम, जैन कवि सम्मेलन, जैन साहित्य सेमिनार, संगीत सम्मेलन, धार्मिक नाटक आदि के कार्यक्रम भी संपन्न होंगे।

इसके संबंध में श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की विशेष मीटिंग में महोत्सव की सुव्यवस्था के लिये श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी तथा अनेक समितियों का निम्न प्रकार गठन किया गया है।

(१) प्रचार समिति (२) विशेष अतिथि-समिति (३) पंडाल समिति (४) वेदी प्रतिष्ठा (५) आवास (६) भोजन (७) जल व्यवस्था (८) प्रकाश (९) द्विशताब्दि समारोह (१०) प्रदर्शनी (११) स्मारिका (१२) जलूस (१३) यातायात (१४) साहित्य प्रचार (१५) सांस्कृतिक कार्यक्रम (१६) सार्वजनिक संपर्क समिति (१७) सुरक्षा व्यवस्था समिति

वेदी प्रतिष्ठा एवं द्विशताब्दि समारोह की तैयारियाँ जोरों से प्रारंभ कर दी गई हैं।

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल (कार्यालय)
सेठी भवन, फोन नं० ७३०८६
हनुमानजी का रास्ता, जयपुर-३

निवेदक—
मंत्री
श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी, जयपुर

बुलेटिन नं० १। प्रचार मंत्री व सम्पादक :—डॉ० ताराचंद्र जैन, बख्शी भवन, न्यू कालोनी, जयपुर-१
आत्मधर्म के इस अंक का कोडपत्र

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरशः प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/- पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

धर्मात्मा का संग

धर्म के जिज्ञासु आत्मार्थी जीव को दुःख प्रसंगों से लबालब भरे इस जगत में धर्मात्मा का योग महा शरणरूप है; और धर्मात्मा का योग मिला, बाद में धर्मात्मा की शीतल छाया में निरंतर रहने का सुयोग मिलना वह तो मुमुक्षु के लिये महान भाग्य की बात है। जैसे माँ-बाप की उपस्थिति मात्र बालक को प्रसन्नकारी और हितकारी है, वैसे ही धर्मात्मा का योग मुमुक्षु जीव को प्रसन्नकारी और हितकारी है।

आत्मार्थी जीव हमेशा अपनी नजर के समक्ष धर्मात्मा को देख-देखकर अपने आत्मार्थ का पोषण करता है... और स्वयं का समूचा जीवन धर्मात्मा के जीवन-अनुसार करने की भावना भाता है... अर्थात् धर्मात्मा के आराधक जीवन को ध्येयरूप से सामने रखकर ही वह स्वयं का जीवन जीता है और जब धर्मात्मा की मी...ठी... नजर अथवा मधुर वाणी उसके ऊपर बरसती है, तब उसका आत्मा ऐसा आल्हादित होता है कि मानों संतों के अतीन्द्रिय आनंद की ही प्रसादी मिली हो।

अहा, ऐसे महात्मा जगत में सदा जयवंत रहो... कि जिनकी संगति से सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५–०
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४–०
श्री नियमसार शास्त्र	४–०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३–५०
समयसार प्रवचन, भाग १–२–३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ–९००	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–५०
मुक्ति का मार्ग	०–५०
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १–२–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०–३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१–०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	१–०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	प्रेस में
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा. प्रेस में	
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ संग्रह	४–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२–०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०
अभिनंदन ग्रंथ	७–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।